सहजानंद शास्त्रमाला

अध्यात्मसहस्री प्रवचन भाग 8

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

http://sahjanandvarnishastra.org/

अध्यात्मसहस्री प्रवचन अष्टम भाग

प्रवक्ता—
अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री, न्यायतीर्थ पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

विविध दार्शनिकोंके दर्शनकी आधारभूत दृष्टियोंके समझनेका संकेत—तेरहवें परिच्छेदमें आध्यात्मिक शक्ति और पर्यायगुणसे सम्बंधित वर्णन था। अब कुछ एक साधारणजनोंके लिये रूखा-सा विषय आ रहा है, लेकिन तत्त्वको स्पर्श करते हुए कोई रूखासे भी रूखा विषय हो तो उससे भी हितकी शिक्षा मिलनेकी गुंजाइश होती है। अब इस परिच्छेदमें यह बताया जायगा कि किन-किन मतोंका किन दृष्टियोंके बलपर आविर्भाव हुआ है? जिन दार्शनिकोंने जो भी अपना मत बनाया है तो जो घर छोड़कर गए थे, अपनी बुद्धिके अनुसार तपश्चरण में लगे थे और जिनको आत्मकल्याणकी वाञ्छा थी ऐसे ही वे सब साधु लोग थे, उन्होंने किसीको भी जानबूझकर परेशानीमें, विडम्बनामें डालनेके लिए या मायाकी बात सोचकर भ्रममें डालनेके लिए अपने दर्शन बनाये हों, ऐसा उनका प्रयोजन न था। चले थे वे सब साधु संन्यासी आत्मकल्याणकी वाञ्छासे और उस शुद्ध तत्त्वके दर्शनके लिए, लेकिन हुआ क्या, उसको अगर संक्षेपमें कहा जाय तो यह कह सकते हैं कि वे स्याद्वादका आश्रय लेना भूल गए। दृष्टियाँ तो सबमें उत्पन्न होती ही हैं। उन दार्शनिकोंकी भी दृष्टियाँ हुईं और उन दृष्टियोंमें जिनकी बुद्धि हो उनसे ऐसे अभिप्राय बनना, मत बनना, दर्शन बनना प्राकृतिक ही बात है। तो जब हम उन सभी संन्यासी साधुवोंके एक भीतरी भावको सोचते हैं तो वे सभी कल्याणकी वाञ्छा करनेवाले लोग थे। कल्याण क्या है, किस ढंगसे होता है? चाहे उनकी यह गुत्थी नहीं सुलझी हो, लेकिन जानबूझकर वे कोई बेईमामी या किसीको परेशानीमें डालनेका काम नहीं करना चाहते थे। अथवा यों समझिये कि जैसे निर्जन स्थानमें सभी तरहके साधु संन्यासी थे, स्याद्वादी साधु भी थे और और भी थे, परस्परकी समता व सङ्गति रहती थी तो मानो एक कोई जैनाचार्य स्याद्वादका आश्रय रखनेवाला बड़े तत्त्वकी बात भाषणमें कह रहा था, सभी दार्शनिक उसकी बात सुन रहे थे। अब जब वर्णन होता है तो उसी वर्णनको सुनकर चूँकि सभी लोगोंकी बुद्धियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं, दृष्टियाँ भी भिन्न होती हैं. और उन दृष्टियोंके उतार चढ़ाव संग्रह करनेकी प्रकृति भी भिन्न भिन्न होती

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हैं, तो किसीने किसी दृष्टिको मुख्य रखकर बात सुना, किसीने अन्य दृष्टिको मुख्य रखकर सुना, तो वहाँ पर भी लोगोंके विभिन्न अभिप्राय बन गए ऐसे ही समझिये कि उन ही दृष्टियोंके बलसे उन्होंने अपने-अपने एक दर्शनकी रचना की, उसका प्रवाह चलाया।

दृष्टियोंमें दृष्टिके अनुरूप दर्शन—यहाँ यह बतलाते हैं कि उन मतोंकी उत्पत्ति किन दृष्टियोंपर हुई, उनके रचनेवाले लोग किस मूड में थे, किस आशयमें थे, जिससे उन्हें वही बात सूझती थी। जैसे किसीने यह दृष्टि मुख्य बना ली कि हमें सब कुछ विनश्वर दिख रहा है, जो पहिले था अब नहीं रहता, पहिले कुछ विचारा अब कुछ। देखो—बिल्कुल ही बदल गया। और, लोग कहते भी हैं कि देखो–अमुक व्यक्ति पहिले तो मेरा शत्रु था और अब तो बिल्कुल ही बदल गया याने मेरा मित्र हो गया, अथवा देखो जो पहिले मेरा मित्र था वह अब बिल्कुल ही बदल गया याने मेरा शत्रु हो गया। या देखो अमुक व्यक्ति पहिले कितना क्रोधी था, अब शान्त हो गया, या देखो पहिले अमुक व्यक्ति कितना मोही था, अब विरक्त हो गया। तो ऐसी बात देखकर लोग कहते हैं कि देखो यह तो अब दूसरा ही हो गया है। ऐसे ही पर्यायकी मुख्यता रखकर जब निरखा तो वहाँ क्या आया कि यह जीव पहिले दूसरा था अब दूसरा जीव आया। तो उस दृष्टिके मूडमें रहे जब यों देखा तो इसमें कोई भीतरमें क्या उनके बेईमानी करने या धोखा देनेकी बात थी? अरे उनके अन्दर एक चूक थी। देखिये–बेईमानी और चूक इन दोनोंमें अन्तर है। बेईमानीमें तो यह बात चित्तमें बसी होती है कि लोगोंको भ्रम हो जाय, ये विडम्बनामें पड़ जायें, दुःखमें पड़ जायें······, पर चूकमें ये बातें उनके चित्तमें नहीं होतीं। वे तो अपने हितकी वाञ्छासे ही वैसा आशय बना लेते हैं। उन दार्शनिकोंके चित्तमें बेईमानी करने की बात आयी हो, यह बात उनमें असंभव प्रतीत होती है क्योंकि उनके अन्दर बेईमानी करनेका भाव (आशय) न था। यहाँ इसी बातका वर्णन चलेगा कि किसी दार्शनिक ने जैन दर्शनकी बात कही तो उसको सुनकर किन किन लोगोंका कैसा कैसा मूड बना, कैसा आशय बना तथा किन-किन दृष्टियोंके आधार पर वे अनेक मत (दर्शन) बन गए।

मतोद्भवकी आधारभूत संग्रहदृष्टि व नैगमनयका अपदेश—उक्त बातको समझनेके लिए पहिले कुछ उन दृष्टियोंके नाम भी समझ लेना चाहिए कि जिनका प्रयोग, जिनका उपयोग उन दार्शनिकोंके हुआ है। जैसे संग्रह दृष्टि याने सबका संग्रह करके फिर जो उस में एकान्त बनाना वह संग्रहदृष्टि है। सामान्य दृष्टिने देखा सबको, पर उन सबको एक सामान्यरूपसे निरखा तो वे अनेक व्यक्तियाँ थीं। उन व्यक्तियोंको व्यक्तित्व न देकर एक सामान्यरूपमें एकता उत्पन्न कर दे, एक यह भी दृष्टि होती है। ये सब दृष्टियाँ स्याद्वादसे अलग नहीं हैं और तत्त्वका ही प्रतिपादन करनेवाली हैं, लेकिन जब आग्रह हो जाता है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

एकान्त हो जाता है तो इसको चूक कहा करते हैं। विशेषदृष्टि— जहाँ कुछ भी फर्क दीखे वहाँ बिल्कुल भिन्नता और पार्थक्य लाना, यह एक विशेषदृष्टिके एकान्तका परिणाम है। जैसे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष अलग अलग हैं। ब्राह्मण अलग चीज है, ब्राह्मणत्व अलग चीज है और आत्मा अलग चीज है। वहाँ विशेष समझमें आया, ऐसा वर्णन तो स्याद्वादमें भी आता है। इस आत्मामें अनन्त शक्तियाँ हैं। जो ज्ञानशक्तिका स्वरूप है क्या वही दर्शनशक्तिका स्वरूप है अथवा सुखादिक शक्तिका स्वरूप है? भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। अब भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं तो ये भिन्न-भिन्न ही हैं, बस आग्रह बन गया। तो उसी विशेषका एकान्त हो जाय ऐसा भी कोई आशय होता है और ऐसे आशयमें रहनेवाले दार्शनिककी जो कलम चलेगी वह उसका ही अनुमोदन करेगी। ऋजुसूत्रनयकी दृष्टि— ऋजुसूत्रनय भी नय है, पर इस नयका काम व्यवहार कराना नहीं है, केवल एक तत्त्व-विषयक परिज्ञान कराना है। लेकिन ऋजुसूत्रनयमें कहे हुए तत्त्वको बताना कि बस तत्त्व इतना ही है, यही वास्तविक है, ऐसा कहकर व्यावहारिक रूप भी देवे तो यह भी एक आग्रह हो जाता है और इस आग्रहमें भी कुछ दर्शनोंकी रचना हुई है। नैगमनय एक संकल्प-ग्राही नय कहलाता है और इसी कारणसे नैगमनयका इतना बड़ा पेटा है कि इसके विषय सत् और असत् दोनों हो जाते हैं। याने कितने अचम्भेवाली बात है कि असत् भी क्या प्रमेय हुआ करता है? असत् प्रमेय नहीं माना गया है क्योंकि प्रमेयत्व गुण सत्में माना गया है। नहीं है प्रमेय, मगर नैगमका इतना बड़ा पेटा है कि सत् असत् दोनोंका परिचय देता है उसे कहते हैं नैगमनय। और इस नैगमनयके अभिमतका जो लोग एकान्त कर दें हो उनका यह अवस्तुस्वरूप होगा। हाँ, जहाँ नय अन्यनयसापेक्ष रहे वहाँ नय सुनय है।

मतोद्भवकी आधारभूत निमित्तदृष्टि, स्वभावदृष्टि व क्रियादृष्टिका अपदेश—निमित्त-दृष्टि—निमित्त क्या है नहीं, उसको कोई न माने, अटपट माने तो बात कैसे बनेगी? निमित्तके अपरिचयमें कोई खाना न खा सकेगा भूखा रहेगा, वह चल भी न पायगा, कुछ व्यवहार ही न हो सकेगा। लेकिन भोजन करानेवाला तो रोज-रोज निःशंक होकर भोजन बनाता है। उसे यह शंका नहीं है कि कल तो इस पद्धतिसे रोटी बन गई थी, आज पता नहीं बनेगी या नहीं, आप सभी समझ रहे हैं ये सारे विषमपरिणमन सहेतुक हैं। तो निमित्त कुछ नहीं है ऐसा कहना भी ठीक नहीं, पर निमित्त दृष्टिका ही इतना एकान्त बना लिया जाय कि वह ही उपादानका रूप रख ले तब तो फिर यह एकान्त कहलायगा। जैसे निमित्त दृष्टिसे अमुक कर्ता है तो ठीक है, पर उसका अर्थ तो इतना ही है कि इस निमित्तका उसमें अत्यन्ताभाव है। चतुष्टय निराला-निराला है। परिणममान उपादानका निमित्तके किसी भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सम्बन्ध नहीं है, लेकिन अन्वयव्यतिरेककी व्याप्ति लग रही है,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उसके होनेपर हुआ है, नहीं होनेपर नहीं हुआ है, इस कारणसे निमित्तकी बात सही है। फिर भी निमित्त शब्दका प्रयोग ही यह बात बतला देता है कि उपादानका उसमें अत्यन्ताभाव है। लेकिन उस निमित्त दृष्टिका कोई इतना एकान्त कर ले कि यही करनेवाला है और यही उसका स्वामी है तो वह निमित्तदृष्टिका एकान्त है। इस आशय (मूड) में भी किसी दर्शनकी उत्पत्ति हुई है, यह बताया जायगा। स्वभावदृष्टि—स्वभाव पदार्थोंमें पाया जाता है। आत्मामें भी स्वभाव है, अब उस स्वभावका एकान्त कर लेना कि वही है शाश्वत, इसके विपरीत कुछ होता ही नहीं है, याने इस दृष्टिमें रागद्वेष विषयकषाय आदिकका निषेध हो जाता है, और उसका निषेध एक व्यावहारिक रूपताको लेकर कोई करने बैठे तो वह स्वभावदृष्टिका एकान्त है। थोड़ा इन दृष्टियोंका मामूली परिचय देकर बताया। आगे क्या गया कि यदि कोई दार्शनिक यह कह रहा है तो उसमें किन-किन दृष्टियोंका उपयोग होता है, उन दृष्टियोंसे परखनेपर उनकी बात सत्य साबित होती है कि हाँ ठीक कह रहा है, यदि कोई ऐसी दृष्टि रखे, इस मुद्रामें हो, इस आशयमें हो तो उससे आशा की जानी चाहिए जैसा कि उसने रचा है। क्रियादृष्टि—एक क्रिया, काम, इसकी ही दृष्टिका एकान्त रखकर आन्तरिक निर्णयकी बात बता देना यह एक एकान्त है, जैसे थोड़ी देरके लिए पूजा, पाठ, दया, दान, तपश्चरण आदिक क्रियाओंमें रहता हुआ जीव सुपात्र रहता रहता है, उसमें पात्रता रहती है कि वह अपना अन्तर्बल सम्हाले तो अपने आपमें स्पष्ट बन जायगा, लेकिन बात तो इस ढंगमें है और कोई वहाँ ही एकान्त कर ले कि ऐसा करने में ही मुक्ति है, यही सब कुछ कर देगा। तो वह एक आग्रह बन जायगा। इसी तरह किन्हीं दृष्टियोंमें क्रियादृष्टिका आग्रह हुआ।

मतोद्भवकी आधारभूत विज्ञानदृष्टि व ज्ञानाकारदृष्टिका अपदेश— विज्ञानदृष्टि—कोई सब जगह एक ज्ञानात्मकताकी ही दृष्टि निरखे तो उस आशयमें उसे सारा लोक ज्ञानमय ही तो दिखेगा। ज्ञानसम्बन्ध बना यह चीज कहाँसे बन गई? इतने आकारोंसे कैसे बन गई? तो एक विज्ञानदृष्टिका एकान्त होना यही है विज्ञानदृष्टि। ज्ञानाकारदृष्टि—ज्ञानमें ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार दो ढंगोंकी बात है। जैसे कहा सामान्य और विशेष। जैसे कहा गया है निराकार और साकार, दर्शन और ज्ञान, इन सबकी जोड़ी लगा लीजिए, दर्शनका क्या स्वरूप है इसके विषयमें यद्यपि कई परिभाषायें आजकल भी दृष्टिगत हैं। कोई कहता है कि सामान्यग्रहण दर्शन है, कोई कहता है कि आत्मप्रकाशन दर्शन है। कहीं लिखा हुआ है कि केवल आत्माका वही ज्ञानाकार प्रतिभास दर्शन है। लेकिन सभी सभी परिभाषाओं का ज्ञानाकार ग्रहणमें अन्तर्भाव हो जाता है, उस पर यदि बहुत निर्णयदृष्टिसे विचार करें तो यह सबमें साबित होगा कि ज्ञानाकार ग्रहण हुआ, निराकार ग्रहण हुआ, सामान्य स्व-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भाव ग्रहण वह सब दर्शन है। और जहाँ यह बात आती है कि दर्शन इसे भी कहते हैं और लिखा भी है कि जैसे घटको कोई जान रहा था, अब घटका जानना छोड़कर पटको जानने चला, कपड़ेको जानने चला तो घटका जानना छूटा, पटका जानना हो नहीं पाया, बीचमें जो इसकी स्थिति है वह दर्शनकी स्थिति है। अब उस दर्शनकी स्थितिमें विचार करें तो जिसने जो परिभाषा दर्शनके विषयमें कही है वह सब घटित हो जाती है, हुआ क्या उस स्थितिमें कि पट ज्ञान करनेके लिये यह सचेष्ट हो रहा है। तो पटविषयक बोधके लिए जो इसके सचेष्टता है उसमें तद्विषयक सामान्य ग्रहण किया गया। हो क्या रहा है वहाँ कि उस बीचकी स्थितिमें न तो घटाकार ग्रहण है, न पटाकार ग्रहण है, किन्तु है क्या वहां ग्रहणमें ? चेष्टारूपमें यह ही दूसरा। दूसरा आकार अभी यहाँ नहीं बना है। लो चलो— आत्मप्रकाशन दर्शन है यह भी बात बन गई और ज्ञानाकार ग्रहण है यह भी बात बन गई, लेकिन ज्ञानाकार ग्रहण होकर भी यह मैं हूं, यह निर्णीति मोहियोंमें नहीं जगती। हो रहा है ज्ञानाकार ग्रहण, पर हो रहा है जैसे कि सोये हुए पुरुषके हाथ चल गये, पर वहाँ निर्णय नहीं है कि यह मैं हाथ चला रहा हूँ, ऐसे ही दर्शनोपयोग अनेकों बार यहाँ अनिवार्यतः हो रहा है, किन्तु वह मेरा स्वरूप है, इस रूपमें दर्शनका दर्शन नहीं हो पाया और वह सम्यक्त्व की पद्धतिमें नहीं आ पाया, लेकिन सभी जीवोंके यहाँ छद्मस्थ जीवोंको भी समय-समयपर ज्ञानाकारग्रहण, सामान्यग्रहण, आत्मप्रकाशन, परग्रहणके लिए सचेष्टता—ये स्थितियाँ आया करती हैं। तो कोई ज्ञानाकारका ही एकान्त कर ले तो उस एकान्तमें किन्हीं दर्शनोंकी रचना हो जाती है, इसका वर्णन चलेगा।

मतोद्भवकी आधारभूत सांव्यवहारिक दृष्टि व स्वानुकूलित सर्वज्ञत्वदृष्टिका प्रतिबोधन— सांव्यवहारिक दृष्टि—जो व्यवहारमें है, रूढ़िमें है बस उसके आधारसे ही तत्त्वनिर्णय करना, यह व्यवहारिक दृष्टियोंका एकान्त है, और इस एकान्तमें अनेक विडम्बनायें भी बन जाती हैं। उसमें तत्त्व भी बन जाता है, लेकिन सांव्यवहारिक दृष्टिका निर्णय इन्हीं वाच्योंसे सर्वथा सत्य हो, सो बात नहीं, पर एकान्तमें क्या क्या बात हो जाती है ?इसका वर्णन किया जायगा। स्वानुकूलित सर्वज्ञत्वदृष्टि—बहुतसे दर्शनोंकी सिद्धि इस आधारपर की गई है कि जैसी उनकी बुद्धि है, जैसा उनके ज्ञानमें है उस ज्ञानके अनुसार बड़े से बड़े भगवान तकमें सबमें उसी बातको खोजना। ऐसी प्रकृति होती है मनुष्योंमें कि दूसरेमें जो कुछ घटा पायगा वह अपनी बुद्धिके अनुसार घटा पायगा। और यह खोज अन्त तक चलायी गई तो यह अपेक्षित बुद्धिमें स्थित हो गया। जैसे जो सर्वज्ञके ज्ञानमें आया तो क्या आया ? जो हो सो आया। तो जो ज्ञात है सो हुआ। इस बातको हम इस रूपसे अगर कह बैठें कि जो भगवान की मर्जीमें आया सो हुआ, भगवानकी मर्जी बिना पत्ता नहीं हिलता, तो हम भी यहां देख

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रहे है कि हमारे ज्ञान के साथ मर्जी लगी है और मर्जीके अनुसार बात चलती है तो अपनी बुद्धिके माफिक अपने परिणमनके अनुकूल हम बाहरमें भी निर्णय करके एकान्त बनायें, इस तरह भी कुछ दार्शनिकोंने अपने दर्शनकी रचना की है याने दार्शनिकोंने जो रचना की है उसमें उनकी दृष्टि क्या रहती थी, इस बातका वर्णन इस परिच्छेदमें चलेगा।

मतोद्भवकी आधारभूत सामान्य सर्वपरिणमनदृष्टि व सामान्य सर्वनिमित्तदृष्टिका प्रतिबोध—एक है सामान्यसर्वपरिणमनदृष्टि–परिणमन सबको दीखे, और सब दिख गए सामान्यरूपसे, तो देखिये किसीकी बात कुछ और बनकर क्या रूप रख लेती है, यह बताया जायेगा सामान्य सर्वपरिणमनदृष्टिके विवेचनमें। जो इनका एकान्त कर लेते हैं उनका क्या सिद्धान्त बन जाता है? जैसे उदाहरणके लिये ये परिणमन जितने चल रहे हैं इनमें एक जीवकी, ज्ञानकी मुख्यता है और जीवके सम्बन्धमें ही ये पत्थर आदिक जो सकलमें आये हैं ये भी जीवके सम्बन्धसे आये हैं। आज नहीं है सम्बन्ध मगर पृथ्वीकायिक जीव न होता तो ये पत्थर सकल कहाँसे आ पाते? ये जीवके सम्बन्ध बिना हुए क्या? तो ये सब जीवकी बातें हैं, जीवकी रचनायें हैं, और ये हैं भिन्न-भिन्न जीवोंकी बातें, लेकिन चूंकि सभी जीवोंके वह चीज चल रही है और वह सब है एक सामान्य रूपसे एक समान। तो यों सबका परिणमन देखें, सामान्यको देखें तो इस दृष्टिसे बढ़ बढ़कर यह बात समझमें आती है कि वह सब कुछ एक जीवकी एक ईश्वरकी एक ब्रह्मकी माया है, तो यों संयुक्त हो होकर ऐसे नयोंके आधारपर इन दार्शनिकोंकी रचना बनी हुई है। एक दृष्टि है सामान्यसर्वनिमित्तदृष्टि—जीवके निमित्त बिना यहाँ कुछ नहीं होता। यह चटाई है, यह पत्थर है, यह आदमी है, यह कीड़ा है···, जो जो भी चीजें आँखोंसे दिख रही हैं उन सबमें जीव निमित्त है। बिना जीवके निमित्तके ये चीजें ऐसी नहीं हुई हैं। यह भी तो एक परख है ना। इस परखमें आगे इतना बढ़े कि वह निमित्तनैमित्तिक रूप न रहा, क्योंकि सर्वस्व बना डाला। सब उसीकी करामात है। वह न हो तो कुछ न हो। तो सब उसीने बना डाला, और चूंकि ऐसे निमित्त हैं सभी जीव और उनको सामान्यतया देखा तो उस दृष्टिमें यह बात आ जाती है कि क्या है कुछ? यह सब ईश्वरने किया है जो कुछ किया है। वह ईश्वर क्या है? वह एक स्वरूप। वह स्वरूप सब जीवोंमें है, समान है और सभी जीव इस सारी रचनाके निमित्तभूत हुए हैं। तो इस तरहसे थोड़ा अंश पकड़कर कुछ और ग्रहण कर, कुछ और ग्रहण कर ऐसी दृष्टियाँ बनती हैं कि जिनसे यह ही सूझता है, बात ऐसी ही है, तो कोई सर्वसामान्यनिमित्तदृष्टिका आधार लेकर दर्शन रचना कर सके हैं। ऐसी अनेक दृष्टियाँ आयीं। उन सब दृष्टियोंको जोड़ करके यह दिखाया जायगा कि किन मतों की किन-किन भावोंकी उत्पत्ति किन दृष्टियोंमें हुई है?

Version 1

मतोद्भवकी आधारभूत निजपरिणमनानुभवदृष्टिका प्रतिबोध—लोगोंकी प्रकृति होती है अपने आपमें जो परिणमन होता है उसमें जो अपनेको अनुभव मिलता है उस अनुभवके आधारपर बाहरमें भी उसका निर्णय बनाना। इसे कहते हैं निजपरिणमनानुभवदृष्टि। जैसे कोई दुःखी है तो उसे सारा जगत दुःखी दिखता है। और जो कुछ सुखी है वह सभी लोगों को देखता है। सुखी पुरुष जो बड़े मौजमें है वह किसी जगह अगर किसीको रोता हुआ देखे तो उसका दुःखका वह अनुभव नहीं कर सकता, वह तो यही जानता है कि इसको वास्तवमें दुःख है नहीं, वह तो ऊपरी-ऊपरी दुःखी बन रहा है। ऐसे ही कोई दुःखी जीव भी किसी सुखी पुरुषका अन्तः परिचय नहीं पा सकता। वह तो यही जानता है कि इसका यह सुखीपन ऊपरी-ऊपरी दिख रहा है, वास्तवमें यह सुखी नहीं है। सभीमें प्रायः ऐसी एक प्रकृति होती है कि अपने अनुभवके आधारपर बाहरमें दृष्टि लगाते हैं। जैसे लोग एक चुटकुलेमें कहते हैं कि कोई एक नाई था। वह बादशाहकी हजामत बनानेके लिए जाया करता था। तो नाई लोगोंकी एक ऐसी आदत होती है कि जब वे हजामत किसीकी बनाते हैं तो उस समय बातें बहुत करते हैं। कोई अगर हाँ में हाँ मिलावे तो फिर उस नाईकी बातें ही न खतम हों। एक दिन बादशाहने पूछा—कहिये खवास जी! आजकल हमारी प्रजाका क्या हाल है? तो खवास बोला—महाराज! आजकल तो आपकी प्रजा बहुत सुखी है। घी दूधकी तो आजकल नदियाँ ही बहती हैं। बादशाहने समझ लिया कि इस खवासके घर आजकल घी दूध खूब होता है और सुखी है इसीलिए यह सबको सुखी समझ रहा है। तो बादशाहने क्या उपाय किया कि अपने सिपाहियोंको ऐसा आदेश दिया कि इस खवासपर कोई आरोप लगाकर इसके यहाँके सारे जानवर गिरफ्तार करवा लो और काँजीहौजमें बन्द करा दो। अब सिपाहियोंको क्या था, कोई झूठा मूठा आरोप लगाकर उस खवासके सारे जानवर खुलवा लिए और काँजीहौजमें बन्द करवा दिये। उसके पास कोई १०–१२ गाय भैंसें थीं। अब दो चार दिनके बादमें फिर खवास बादशाहके पास हजामत बनाने आया—तो बादशाहने उसी तरह फिर पूछा। तो खवास बोला—महाराज! आपकी प्रजामें त्राहि त्राहि मची है, बड़े दुःखी हैं। किसीको घी दूधके तो दर्शन ही नहीं होते। तो देखिये—जिसकी जैसी दृष्टि है उसको बाहरमें सर्वत्र वैसा ही दिखता है तो जिन दार्शनिकोंकी जैसी दृष्टि थी वैसा ही उन्होंने अपना निर्णय दिया। इसका वर्णन इसी परिच्छेदमें आगे होगा।

मताविर्भावकी आधारभूत अवक्तव्यदृष्टि, निजबुद्धिदृष्टि, अन्तर्जल्पदृष्टि, पर्यायदृष्टि व पारिणामिक दृष्टिका प्रतिबोध—अवक्तव्यदृष्टि—तत्त्व वचनागोचर है इस ही का एकान्त करना है। जैसे मानो अनेकान्तका आश्रय रखनेवाले महंत अपने भाषणोंमें तत्त्वका वर्णन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

करते जा रहे हों तो जो समझदार श्रोता बैठे हों तो वहाँ यह आवश्यक नहीं है कि पद पद पर नय और दृष्टिका नाम ले लेकर खुलासा किया जाय। जानते हैं, समझदार हैं, वे समझ लेते हैं कि इस दृष्टिसे इस नयसे बोला जा रहा है। वहाँ बारबार दृष्टि और नयका नाम देनेकी आवश्यकता नहीं होती है। हाँ, जहाँ एक प्रथम ही काम हो रहा हो, प्रथम ही समझाया जा रहा हो तो वहाँ दृष्टि और नयोंके ही नाम कुछ बाहर बाहरसे बोलकर चेतावनेकी आवश्यकता होती है। अब चले वर्णन करने तो ऐसा भी तो वर्णन आयगा ना, जैसे यहाँ आत्मामें रागद्वेष रहता है, यह ज्ञेयाकारसे रहित है, ज्ञानमें जो प्रतिक्षण ज्ञानपरिणमन होते उनसे भी बाहर है, ऐसा ही एक सहज चैतन्यमात्र है, और-और खींचकर भाषण हुआ, कोई इसका एकान्त करके बाहरमें बात चलाये तो यह किन्हींकी पकड़में आ सकता है कि वह तो शून्य है। है कुछ नहीं वहाँ, केवल शून्य शून्य मिला वहाँ। जैसे पुरुषका चैतन्यस्वरूप है, अब उसका स्वरूप क्या है? उसमें ज्ञान नहीं है, दर्शन नहीं है। जानना देखना ये सब औपाधिक बातें हैं वहाँ केवल एक चैतन्य सहजभाव है. और भी भीतरमें चलो तो ६ पदार्थोंमें गत होकर भी वह तो सबसे निराला केवल शुद्ध है। पहुंचना है उस शुद्ध तत्त्व पर, मगर ऐसा सुन सुनकर भिन्न-भिन्न दृष्टियोंके लोग तो होते ही हैं. उन सबको जिसने छोड़ दिया, ६ पदार्थोंको छोड़ दिया, व्यावहारिक रूपको छोड़ दिया और एकान्त बन गया उसका, तो उस एकान्तिक मुद्रामें जब रह भी न सके, विकल्पोंमें आ गए और विकल्पोंमें आकर भी उस एकान्तकी रटन लेकर बात कही जाय, उसके लिए लोकका यह सब कुछ शून्य है। है कुछ नहीं, बात ही बात किया है, इस तरह दृष्टियोंके आधारसे किन-किन मतोंका आविर्भाव हुआ? यह अब वर्णन चलेगा। निजबुद्धिदृष्टि—अपनी बुद्धिमें जो स्वरूप जंचा उसे ही उतना ही परिपूर्ण तत्त्व मान लेना निजबुद्धिदृष्टिका परिणाम है। जैसे ज्ञान अपनेको जैसा हो रहा है बस ऐसा ही ज्ञानस्वरूप है, अन्य प्रकार ज्ञान होता ही नहीं है आदि। निजबुद्धिके एकान्तमें क्या दर्शन बनता है, इसका वर्णन भी इस परिच्छेदमें आवेगा। इसी प्रकार और भी अनेक दृष्टियाँ हैं। उन सब दृष्टियोंमें कैसा दर्शन होता है? इसका भी वर्णन होगा। जैसे अन्तर्जल्प दृष्टिमें सर्व सत् जल्पात्मक विदित होना, पर्यायदृष्टिमें सब अध्रुव विदित होना, पारिणामिक दृष्टिमें सर्व एक एक ध्रुव विदित होना। यों दृष्टियोंके एकान्त जो स्वरूप अवगत हुआ इसका वर्णन अब होगा।

ब्रह्म सर्वव्यापी एक है—इस मतके आविर्भावकी आधारभूत आगृहीत दृष्टिका प्रकाशन—विविध दार्शनिकोंमें एक दार्शनिकका यह सिद्धान्त भी प्रायः प्रसिद्ध हो रहा है कि ब्रह्म सर्वव्यापी एक है। इस सम्बन्धमें सर्वप्रथम मीमांसा कर रहे हैं कि यह किस नयसे कहा गया है, ऐसे दर्शनका अभिप्राय मूलमें क्या था? ब्रह्म सर्वव्यापी एक है, पहिले इसका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अर्थ समभिरूढ़ । इस दर्शनका यह आशय है कि सारा विश्व जो कुछ भी दिख रहा है—चर अचर, चेतन अचेतन, जितना जो कुछ भी सत् है वह सब एक ब्रह्म है और वह है सर्व-व्यापी तथा एक ही है । इस सिद्धान्तमें यह प्रश्न किया जानेपर कि फिर आखिर ये सुख दुःख भिन्न-भिन्न जीव जो कुछ यहाँ नजर आ रहा है यह तो एक नहीं मालूम होता, ये तो अनेक प्रतीत होते हैं । तो उसका समाधान यों किया गया कि ये सब उसके आराम हैं, पर्याय हैं, बगीचा है, उसको कोई नहीं देखता । और कोई देखता है तो वह अज्ञ प्राणी है, मायाग्रस्त है । इस सिद्धान्तके लिए पूछा जा रहा है कि यह सिद्धान्त किस नयपर आधारित हुआ है ? तो सुनो—यह सिद्धान्त सामान्य दृष्टिका परिणाम है । सामान्यका अर्थ क्या है ? समाने भवः सामान्यं अर्थात् जो समानमें होनेवाला भाव है उसको सामान्य कहते हैं और उस सामान्यकी दृष्टि रखना और उसका आग्रह रखना कि यही मात्र है असलमें, बस इस दृष्टिका परिणाम है जो यह अभिप्राय बना कि सर्वव्यापी एक ब्रह्म ही है, और कुछ भी नहीं । ये नाना कुछ नहीं हैं, वही एक मात्र है । यह बात कैसे सामान्य दृष्टिसे निरखी ? सो सुनो—तो कहींसे भी शुरू कीजिए—जीवको शुरू कीजिए जीव हैं यद्यपि अनन्त, मगर जीवके तथ्यभूत स्वरूपपर दृष्टि जब करने लगते हैं तो वहाँ व्यक्तियाँ नानापन कुछ अनुभव में न आयगा । जरा जीवके उस असली स्वरूपको निरखिये जो जीवमें शाश्वत है, जीवका प्राणभूत है, जो स्वभाव है उसपर दृष्टि तो दीजिए—जब कभी किसी जीवको आश्रयभूत करके वहाँ उसके स्वरूपको निरखने चलेंगे तो वह स्वरूप ही रह जायगा उपयोगमें, वह जीव न रहेगा, और ऐसा जब उपयोग हो और वहाँ उस सामान्य स्वभावका परिचय हो तो उसके बाद विकल्प अवस्थामें भी आये कोई, वहां भी यह आग्रह करके रहे कि बस सत् तो वही मात्र है, और कुछ सत् है ही नहीं । लो अब इस दृष्टिमें यह बात आयी कि वह सत् है, ब्रह्म है और एक है । उसे कितना बड़ा बताया जाय ? छोटा तो वह था नहीं, केन्द्रमें तो वह आया नहीं और आया अपने उपयोगमें तो उपयोगमें आये और कुछ बाहर ध्यानमें न आये तो वह असीम कहा जायगा, सर्वव्यापी, उस ब्रह्मकी कोई सीमा नहीं है । तो यह बात मिलती है सामान्यदृष्टिके आधारपर, इस दृष्टिमें आवान्तर सत्ता नहीं रही, याने पृथक् पृथक् सत्त्वकी ओर अभिप्राय नहीं जाता ।

ब्रह्मकी सर्वव्यापिता माननेका मौका दिलानेवाला विचार—अब जरा सर्वव्यापित्व का विश्लेषण करके देखें तो इस तरह देख सकते हैं कि देखो लोकमें अनन्त जीव हैं, हां अभी तो स्वभावदृष्टिसे एक बताया था कि हां एक है, और सर्वव्यापी किस तरह है ? चूंकि अपने उपयोगमें आया वह, तो उपयोगमें आया हुआ असीम ही रहता है, यों सर्वव्यापी है । और बाह्य क्षेत्रकी दृष्टिसे देखो तो इस लोकमें ऐसा कोई प्रदेश नहीं बचा जहाँ जीव न

Report any errors at vikasnd@gmail.com

हो। अनन्त जीव हैं और लोकमें सर्वत्र व्यापक हैं। तो अनन्त जीव हुए ना और सर्वव्यापक हैं, ठसाठस भरे हैं। लोकमें कोई भी प्रदेश रिक्त ऐसा नहीं है जहाँ जीव न हों, तो देखो लोकमें जीव सर्वत्र भरे हैं। सो देख लो--सर्वत्र जीव व्यापक हैं ना, और उन सब जीवोंको छोड़ो--सामान्यदृष्टिसे एक मालूम हो तो वह एक जीव है सर्वजीव। सो एक ही है। भिन्न-भिन्न तो ये भ्रममें लग रहे हैं। उस एक सामान्य सहज स्वभावसे हटकर जो कुछ दिखे वह सब भ्रम बताया गया है इस सिद्धान्तमें। तो यों भ्रमसे नाना मालूम होते हैं, परमार्थतः तो सब एक है, वह ब्रह्म है, सर्वव्यापी है, एक है, इस तरह यह जो परिणाम निकला वह सामान्यदृष्टिसे निकला।

ब्रह्माद्वैतकी मान्यतामें श्रेय व अश्रेयका विचार--अब थोड़ा इस बात पर भी विचार करिये कि यदि ऐसा ही मान लें तो उसमें बुराई तो कुछ आती नहीं, भलाई ही कुछ मिलेगी। जैसे इसपर डटकर रह जायें कि वह तो ब्रह्म सर्वव्यापी एक है, वचनके अगोचर है, उसका यह सब आराम दिखता है, वह तो एक है तो ऐसी दृष्टि रखनेमें बुराई क्या आयगी? चलो सामान्य दृष्टिका आग्रह ही सही, पर इसमें अनर्थ क्या होनेका है? बात तो यह भली है, और जब ऐसा उपयोग हो गुप्त, आभ्यंतर कि जहाँ केवल एक चैतन्यमात्र उपयोग हो वहाँ तो न सर्वव्यापीका विकल्प रहता है और न एकका। वहाँ तो जो उपयोग में है, सो ज्ञान जान रहा और ज्ञान ही रूपसे जान रहा तो अभेद हो जायगा। वहाँ तो अन्य कुछ नजर नहीं आता, लेकिन जब इस उपयोगसे हटे और बाहरमें इन पदार्थोंको निरखा और वहाँ भी उस एकका ही आग्रह किया गया तो इस दृष्टिमें बन्ध मोक्ष व्यवस्था या कुशल अकुशल कर्म या सुख दुःखका भोगना या संसार व मुक्त अवस्था ये सब सिद्ध नहीं होते। और चूंकि तथ्यके विरुद्ध जाता है तो ऐसे तथ्यविरुद्ध विकल्पकी स्थितिमें किए गए संस्कारपूर्वक कोई ऐसे ब्रह्मकी भी बात भीतरमें विचारे तब भी वह असत्य हो जाता है। यहाँ सामान्यपना तो सविधि तब था कि इस व्यवस्थासे चलते कि जगतमें जीव तो अनन्त हैं, क्योंकि प्रत्येकका परिणमन उन ही में होता है, उससे बाहर नहीं होता, और किसी द्रव्यको यह है द्रव्य, स्वीकार करनेका प्रमाण ही यह होता है कि एक परिणमन जितनेमें हो उतना वह एक द्रव्य है। वह सब परिणमन जितनेमें हुआ उतने जीव प्रदेश हैं, ऐसे ऐसे अनन्त जीवद्रव्य हैं, लेकिन उन अनन्त जीवद्रव्योंमें सहजस्वभाव क्या है, सहजस्वरूप क्या है? इसको जब निरखने चले तो वहाँ दीखा कि वह सहजस्वरूप, वह स्वभाव एक है, असीम है। किन्तु यहां तो सर्वव्यापी एक व्यवहारतः कहा जा रहा है।

ब्रह्मस्वरूप की सकल परभावविविक्तता--इस अन्तःपरिचयमें भीतरी तत्त्व यह है कि वह स्वभाव, वह स्वरूप, ज्ञायकभाव एक है, इस संकल्प निकल्पसे भी रहित वह है, और

http://sahjanandvarnishastra.org/

इसके तथ्य तक पहुंचनेकी श्रेणियां यों है कि सर्वप्रथम तो पहिले यह जानना होगा कि यह मैं इन बाहरी पदार्थोंसे निराला हूं, ये बाहरी पदार्थ, उनका द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव उनमें है सो यह बात तो लोगोंको बड़ी सुगमता से स्पष्ट विदित हो जाती है कि मैं घर, मकान, बाहरी चीजें, इन सबसे न्यारा हूं, और फिर सोचें कि मैं इस देहसे भी न्यारा हूं। देह भी परद्रव्यमें आया, लेकिन यह देह भी एक क्षेत्रावगाही है, सो इसको परद्रव्य रूपसे जानना मुश्किल पड़ता है इन बाहरी चीजोंके जानने की अपेक्षा।

तो यहाँ निर्णय करो कि मैं इस देहसे निराला हूं। अब और भीतर चलें तो मैं ज्ञानावरणादिक कर्मोंसे निराला हूं, इसमें ज्यादह दिमाग लगानेकी जरूरत नहीं है। उससे भी निराला है यह प्रधानतया यहाँ यह चर्चा नहीं रखना है, यह चर्चा यहां यों नहीं रख रहे कि साधारण जन इस सम्बन्धमें विकल्प नहीं करते, वे तो बाह्य अर्थोंमें व अपनी गुनगुनाहटमें विकल्प करते। यह द्रव्यकर्म न तो स्वसम्वेदनसे जाना जाता है और न इन्द्रिय प्रत्यक्षसे। यह देह, ये बाह्यपदार्थ इन्द्रियसे ही तो जाने जाते हैं। सो कर्म एक ऐसा सूक्ष्म पदार्थ है कि न इन्द्रियसे जाना जाय, न सम्वेदन से। इसका तो युक्ति और आगमसे परिज्ञान होता है। युक्तियोंसे जान लीजिए, आगमसे मान लीजिये। यह एक आध्यात्मिक सरल चिकित्साके लिए कहा जा रहा है। अतः स्वसंवेदनगम्य व सांव्यवहारिकप्रत्यक्षगम्य वस्तुकी विशेष चर्चा होती है। कर्मको युक्तियोंसे स्वीकार कर लीजिए कि अगर कोई ऐसा पदार्थ साथमें बंधा न होता तो फिर ये रागादिक कैसे होते ? तो जो आयगा वह सब सहेतुक है। इन रागादिकके आनेमें कारण हैं कर्म। कर्मका स्वरूप स्वीकार करके और आगे बढ़ो— परद्रव्य मैं नहीं हूं, देह मैं नहीं हूं, कर्म मैं नहीं हूं और जो रागादिक विकार होते हैं वे भी मैं नहीं हूं। इनसे भी निराला हूं, इन समस्त परभावोंसे मैं जुदा हूं, ये तो परभाव हैं, मेरी ही शक्तिके आश्रय रहनेवाले भाव ये नहीं हैं। यद्यपि हुए मुझमें हैं, लेकिन उनपर मेरा अधिकार नहीं है। मेरे स्वभावसे मेरी शक्तिके आश्रयसे मात्र हों सो नहीं, किन्तु कर्मविपाक जब हुआ करता है तो अधिकार किसका रहा ? जिसके साथ अन्वयव्यतिरेक हो। जो ना करे तो न हो, हां करे तो हां हो, ऐसा जिसके नाचपर विकार नच रहा है, अधिकार उसका मानना चाहिए। कर्मविपाक होनेपर ही विकार होते हैं, नहीं होनेपर नहीं होते। तो ये रागादिक कैसे पैदा हुए ? उन कर्मोंके विपाकसे तो विभाव परभाव कहलाये। देखिये— करनी है अपने आपके स्वभावकी रक्षा, अपनी यह चिकित्सा। इस चिकित्सामें जो जो भी उपचार करना हो वह करना होता है, परहेज भी करना होता है। तो अभी हम परहेजकी बात कर रहे कि अगर आत्मस्वभावका स्वास्थ्य पाना है तो किन-किन चीजोंका परहेज करना चाहिए ? फिर कौन-सी औषधिका पान करना चाहिए ? औषधिका पान करनेकी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बात पीछे बतायेंगे, पहिले तो परहेज करनेकी बात कही जा रही है। कोई रोग हो, उसकी चिकित्सा करनी हो तो तत्काल औषधिके लिए कोई वैद्य नहीं है तो अधीर मत होओ— उसके लिए सबसे पहिले परहेजकी बात बतलाते हैं क्योंकि वह जान रहा है कि औषधिपान कराया, परहेज न कराया तो उसका कोई असर नहीं होता। अगर परहेज कर लिया तो फिर औषधिपान करनेमें विलम्ब हो जाय तो भी कोई बात नहीं, कुछ विशेष बिगाड़ नहीं होनेका। तो यह मैं इस देहसे निराला हूं, इन कर्मोंसे निराला हूं। तो ये कर्म हटें, यह देह हटे, ये सब परहेज हैं, परिहेय हैं। परहेजमें इन रागादिविकारोंका, परभावोंका भली प्रकार छोड़ना योग्य है। इनसे भी मैं निराला हूं। इस जीवको कह रहे हैं, उस ब्रह्मको उस ब्रह्मस्वभावको जैसे कोई दार्शनिक सर्वव्यापी एक मान रहे हैं। उसे अगर विधिपूर्वक निरखा जाय तो वहाँ न सर्वव्यापीका पता रहेगा, न एकका, किन्तु अनुभव रहेगा। तो ऐसा मैं सर्व परभावोंसे भी निराला हूं।

ब्रह्मस्वभावकी आपूर्णता व आद्यन्तविमुक्तता—मैं सर्व परभावोंसे निराला हूँ, ऐसा परखनेवालेको यहाँ तक ही सन्तोष नहीं करना है। अभी वह शुद्ध औषधि नहीं मिल सकी। इसके जो एक छुटपुट ज्ञान पैदा होता है— इसे जाना, उसे जाना, यह समझा, ऐसे जो भिन्न-भिन्न ज्ञान चल रहे हैं इनसे मैं निराला हूं, क्योंकि मैं छुटपुट हूँ क्या? मैं अधूरा हूं क्या? मैं तो जो हूं सो पूर्ण हूं। जो मेरा पूर्ण भाव हो वह मेरी चीज है। यह छोटा मोटा ज्ञान, सावरण ज्ञान जिसमें कितनी ही पराधीनतायें हैं, कैसी उत्पत्ति होती है तो यह भी मैं नहीं हूं, इससे मैं निराला हूँ। बात सुनते सुनते कोई जिज्ञासु बोला— महाराज, अब हम पूरी तरहसे समझे। आप उस केवलज्ञानकी बात कर रहे हो कि वह केवलज्ञान तत्त्व परद्रव्यसे भी भिन्न है, देहसे भी निराला है, कर्म से भी निराला है, रागादिक विकारोंसे भी निराला है और इन छुटपुट ज्ञानोंसे भी निराला है और परिपूर्ण है, वह केवलज्ञान है सो ही ब्रह्म है। ब्रह्मस्वरूपकी चर्चा रखनेवाले संत यह कहते हैं कि केवलज्ञानमें भी न अटको, हम तो उस सहज भावकी चर्चा कर रहे हैं जो आपूर्ण है, साथ ही आदि अन्तसे रहित है, जिसकी न आदि है, न अन्त। तुमने केवलज्ञानको ब्रह्मस्वभाव समझा है, उसकी आदि भी है और अन्त भी है, लेकिन केवलज्ञान केवल ज्ञान ही होता रहता है इस दृष्टिसे अनन्त है, पर आदि तो तब भी माननी होगी। जब कर्म छूट गए, घातियाकर्म दूर हुए तब ही ना वह केवलज्ञान प्रकट हुआ। तो यहाँ इस आदि वालेकी बात नहीं कह रहे हैं। वहाँ अभी कोई शुद्ध तरंग तो है। तो जो आदि अन्तसे भी रहित हो वह है ब्रह्म स्वरूप, वह है स्वभाव। लो बहुत समझदार कोई जिज्ञासु बोला कि महाराज! यह भी बात हम समझे। क्या समझे? आप उस एक ज्ञानस्वभाव की

Version 1

चर्चा कर रहे हैं जो ६ पदार्थोंमें जाकर भी एक रहता है, अपनी एकताको नहीं छोड़ता है।

ब्रह्मस्वरूपकी विलीन संकल्प-विकल्पजालता—अब यहाँ एक स्वभावकी बात कही जा रही है, एक है वह इस सीमामें बाँधकर कोई जिज्ञासु अपनी बात रख रहा है कि ब्रह्मस्वभाव परभावभिन्न है, आपूर्ण है; आद्यन्तरहित है और एक है। यहाँ "एक है" यह सुनकर मानो कोई आध्यात्मिक संत ज्ञानभरी झुंझलाहट करके कहता हो कि हे वत्स ! तुम्हारा कहना तो ठीक है लेकिन कसर है। वह ब्रह्मस्वभाव इस तरह नहीं जाना जाता जिस तरह तुम इस एकको जान रहे हो, किन्तु जिस समय उस एकका भी विकल्प न रहेगा, उस एक सम्बन्धी संकल्प विकल्प भी दूर हो जायेंगे ऐसी स्थितिमें तुम असलमें समझ पाओगे कि यह है ब्रह्मस्वरूप। जैसे कोई मिश्री, हलुवा, पकवानकी बड़ी चर्चा करे कि ऐसा मीठा था, इतना स्वादिष्ट था, तो उससे कहीं स्वादकी सही समझ नहीं आ सकती। जिसने खा कर कभी स्वादका अनुभव किया हो, वह सही रूपमें समझ सकता है या जिसके मुखमें उस मिश्री हलुवा आदिकको रख दिया जाय तो वह उसका सही स्वाद समझ सकता है। ऐसे ही आत्मस्वरूपकी कितनी ही चर्चा कर ली जाय, पर उसका सही अनुभव केवल ऊपरी ऊपरी शब्दोंसे नहीं किया जा सकता। उसे तो कोई ज्ञानानुभवी संत कर सकता है, जिसको अपने पर्यायकी बुद्धि ही नहीं है। अज्ञानमें अभी जिसका वर्तन चल रहा है, उसको आत्मस्वरूपका सही निर्णय कैसे हो सकता है ? आत्मस्वरूपका सही निर्णय तो होता है ज्ञानी जीव को। वही उसका सही ढंगसे अनुभवन कर सकता है।

स्याद्वादके अनाश्रयी होकर भी बुद्धिगत कल्याणके लिये हार्दिक उल्लास—सामान्य दृष्टिसे जिसको यह तत्त्व समझाया जाता है वह इसी पद्धतिसे समझाया जाता है। अब इसी पद्धतिको जिसे सामान्य दृष्टिके प्रतापसे समझा है इसका ही कोई आग्रह करले, यही मात्र है और उसका आग्रहका ही व्यावहारिकरूप ले ले तो वह व्यावहारिकरूप भी असत्य हो गया और जो उस रूपमें अन्तःस्वरूप समझ रहा था वह भी असत्य हो गया। तो ब्रह्म सर्वव्यापी एक है, ऐसा जिन दार्शनिकोंने कहा है वे अपनी बुद्धिके माफिक सच्चे थे, उन्होंने बेईमानीसे नहीं कहा है, किन्तु कहा है कल्याणबुद्धिसे प्रवेश करके, समझ समझ कर, बहुत भीतरी बुद्धि लगाकर, किन्तु हो क्या गया ? एक स्याद्वादका आश्रयभर न लेने से यह चूक इतनी बड़ी चूक हो गई।

यहाँ समझा होगा कि ब्रह्म सर्वव्यापी एक है, इस प्रकारका अभिप्राय सामान्यदृष्टि के आग्रहका परिणाम है। इस परिच्छेदमें आद्योपान्त ये चर्चायें चलेंगी कि विभिन्न दार्शनिकोंने जो अपने दर्शन गढ़े वे किस दृष्टिसे आविर्भूत हुए हैं, उनको क्या बुद्धि मिली थी ? देखिये—जंगलोंकी राख छानना, निर्जन स्थानमें रहना, अनेक तरहके कष्ट भोगना, राज्य

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वैभव भी त्याग दिया, इतनी बड़ी बात जिन संन्यासियोंने की और इतना ही नहीं संन्यासी होकर मौनसे रहना, बहुत कम बोलना, अल्प आहार लेना, आहारकी ओर उनकी रुचि भी न रहना, इतना बड़ा आशय रखनेवाले संन्यासी जन जिन्होंने अपने दर्शन रचे हैं, उन्होंने एक चूक यही की कि स्याद्वादका आश्रय उन्होंने नहीं लिया, उनका बेईमानी करनेका, किसी को हैरानीमें डालनेका आशय न था। यह तो हमारा आशय है, और फिर इतिहास जो कुछ कहता हो उसका हमें परिचय करनेकी रुचि नहीं है, लेकिन इस आधारपर कि तत्त्वको छूनेवाली बात तो वे कह ही रहे हैं और उस ही तत्त्वमें रमनेका वे अपने आपमें एक आराम भी समझ रहे हैं। और इसीसे मुक्ति होगी, ऐसा मार्ग भी समझ रहे हैं। तो यों समझो कि जैसे कोई ११ अंग ६ पूर्वका पाठी विद्वान् साधु जो कुछ कह रहा है वह भीतरी खोटे अभिप्रायसे नहीं कह रहा है मिथ्यात्वके होते हुए भी। (किसीके किसीके मिथ्यात्व भी पाया जाता है ११ अंग ६ पूर्वका वेत्ता होकर भी) तो बुद्धिपूर्वक प्रवृत्तिका जहां तक समाधान दिया जायगा यह कहा जायगा कि बड़ा शुद्ध आशय था, तब ही तो उनके उपदेश में इतनी विशेषता है कि अनेक जीव सम्यक्त्व पा लेते हैं तो कहा न जायगा कि ये मिथ्या आशयसे बोल रहे हैं। उनकी समझमें नहीं आया, उनकी गुत्थी नहीं सुलझी। उस सहज स्वरूपका दर्शन हो जाय, इस तरहका उनके अन्तः संयम नहीं बन पाया, इतना कंट्रोल नहीं हो सका जो इस उपयोगको सकरी गलीसे ले जाकर दिखा देवे कि यह है तेरा परमात्म-तत्त्व। सब कुछ ज्ञान करके भी उपयोगको पहुंचानेको बाह्यगलीसे ही यह ले जाता रहा, उस केन्द्रित गलीसे नहीं ले जा पाया कि जहांसे उपयोगको ले जाकर यह अपने उस परमा-त्मतत्त्वका दर्शन करा दे। बात यह हुई किन्तु ज्ञान तो उनका सही कहा जायगा, उपदेश सही कहा जायगा। जो कुछ उन्होंने रचना किया वह सही कहा जायगा। यह तो यहांकी बात बतलायी गई, लेकिन उन संन्यासी जनोंकी बात कह रहे हैं कि वहां दो चूक हुई हैं। यहां तो एक ही चूक है। ११ अंग ६ पूर्वके ज्ञाता मिथ्यादृष्टि साधुजनकी चूक एक है जिस-पर कोई वश नहीं चलता, उनकी गुत्थी नहीं सुलझी, उन्होंने उस कारण समयसारका अनु-भव नहीं कर पाया, लेकिन वहां उनकी दो चूक हो गयी, इस कारण समयसारका दर्शन नहीं कर पाया और दूसरे—उन्होंने स्याद्वादका आश्रय भी न ले पाया। इन दो चूकोंके अति-रिक्त और बात उनमें क्या कही जाय ?

दर्शन, मत व मजहबमें अन्तर—अब बतला रहे हैं कि ब्रह्म सर्वव्यापी एक है। इस बातकी मान्यता भी विभिन्न दृष्टियोंपर आधारित है। इसीलिए दर्शन, मत और मजहब इन तीनोंमें फर्क है। जैसे हम सभी धर्मसम्प्रदायोंमें नाना प्रकारके दर्शन कहते हैं, वे दर्शन नहीं, किन्तु मत हैं, वे मानी हुई चीजें हैं, कल्पनामें आयी हुई चीजें हैं। दर्शनमें आयी हुई

Version 1

वे चीजें हों ऐसी बात नहीं है। दर्शनमें तो वे चीजें आयेंगी जो कि सहज और यथार्थ हैं। तो दर्शनमें और मतमें यह अन्तर है। और मजहब की बात तो दर्शन और मत इन दोनोंसे परे हैं। मजहब—रूढ़िके अनुसार हम धर्मकार्य कर रहे हैं वह है मजहब। वहाँ दर्शन तो कुछ है ही नहीं। तब इस मजहबके नाम पर ऐसी प्रवृत्तियोंका प्रसार हो गया है कि जिनमें जीवोंका अहित भी होता है। वैदिकी हिंसाको हिंसा नहीं बताया है उन हिंसा करनेवाले लोगोंने। उनकी इस बातने लोगोंको हिंसा करनेके लिए प्रवृत्त किया है। ये जो यज्ञादिककी परिपाटियाँ चलीं, जिनमें घोर हिंसायें होती थीं तो वे क्यों चलीं? अरे कल्याणके लिए तो केवल एक ब्रह्मज्ञानकी जरूरत है और उसही में निष्ठित होनेकी जरूरत है, यही तो एक मार्ग है और इसके लिए अपना बाहरी संयम भी होना चाहिए, नहीं तो वह विकल्पोंमें उलझ जायेगा। तो यह निष्परिग्रहता, निरारम्भता इन बातोंकी आवश्यकता हुई। तो इनकी वृत्तिमें रहकर भीतरमें ब्रह्मका ज्ञान हो, उस ही में हम निष्ठ हों। फिर इतना जो बखेड़ा बाहरी यज्ञादिकका चला है इसका आधार क्या होगा, इसको तो इतिहासवाले जानें, पर सम्भावना यह हो सकती है कि कुछ लोग जो अपनी जातिसे अपनेको धर्मात्मा समझते व कहलाते आये थे और वह धर्मात्मापन जो कि तथ्यभूत था, रहा नहीं। विषय कषायोंमें अधिक बढ़ गए, उनके साधन चाहे, उनसे मौज लेना चाहा। साथ ही इतनी वृत्ति बढ़ गई कि उनको मांस खाना अच्छा लगने लगा और उस वृत्तिमें भी रहने लगे तो अब यह बात फैल गई कि ये तो माँस खाने पर भी उतारू हो गए। तो सम्भवतः उस समयकी ये रचनायें होंगी कि कोई यज्ञविधिकी बात और लोगोंको कुछ काम करके दिखा दें ताकि लोगोंको यह श्रद्धा हो कि यज्ञ करनेसे कितना धर्म होता है। सो घोड़ा, गाय, भैंस, सूकर, मेढ़ा, बकरी आदिककी बलि यज्ञके नामपर दे देते थे ताकि लोग उनको उस समय अधर्मी न कह सकें। फिर उसके बादमें कुछ विवेकियोंने शुद्ध रूप बनाया, उस यज्ञको अच्छे रूपमें लाये, मगर बलि होनेकी पृथा यज्ञमें इस आधारपर सम्भव मालूम होती है कि उनका धर्मात्मापन भी लोगोंकी दृष्टिमें बना रहे और मांसभक्षण करनेको भी मिलता रहे। तो कल्याणके लिए ये बड़ी विसमतायें हैं। तो ब्रह्मस्वरूपका बोध कल्याण और उसमें रमण चाहिए और उसके अनुरूप बाह्य संयम चाहिए। उस तत्त्वको निरखने चले, मगर स्याद्वाद का आश्रय न ले सके तो उनकी इस तरहकी वृत्ति हो गयी।

ईश्वर एक है इस मन्तव्यकी आधारभूत मूल दृष्टिकी जिज्ञासा—नय अनेक प्रकारके होते हैं और इन नयोंका सम्बन्ध मनुष्यमात्रसे है। कहीं ऐसी बात नहीं है कि नय और प्रमाणका वर्णन जैन दर्शनमें किया गया हो और यह केवल जैनोंकी ही चीज हो? अरे यह तो आत्माकी चीज है। जो भी समनस्क जीव है उसमें नय और प्रमाणकी पद्धतिका परि-

http://www.jainkosh.org

गमन होता है और नय चूँकि अनेक हैं अतएव व मनुष्योंके अभिप्राय भी अनेक हो जाते हैं। जीव सब समान हैं। इस मनुष्मभवमें आये तो सभी जीव भी, मनुष्य सामान्य भी अन्तर्दृष्टिमें समान होना चाहिए था। सो जिस सीमामें मनुष्यत्व है उस सीमासे तो समान्य है लेकिन नय होते हैं अनेक प्रकारके, उनमें किसीने किसी नयका आग्रह किया, किसीने किसीका। बस इससे मनुष्योंके मन्तव्यमें भेद पड़ जाता है। वहाँ जो कुछ भी विचारोंकी उपपत्ति होती है वह तो इन नयोंके बलपर होती है। इससे तो एक समानता ज्ञात हुई है लेकिन उनमें किसी किसी नयका आग्रह कर लेनेके कारण यह दार्शनिकता विभिन्न ज्ञात होने लगी है। इसी सम्बन्धमें यहाँ एक यह चर्चा चलायी जा रही है कि बतलावो लोग ऐसा कहते हैं कि ईश्वर एक है तो यह किस दृष्टिसे कही हुई बात है? ईश्वरको एक बतानेवाले अनेक लोग हैं। जो दार्शनिक पद्धतिसे विवेचन करते हैं कि उनमें भी अनेक दार्शनिक ऐसे हैं जो कहते हैं कि ईश्वर तो एक ही होता है, अनेक नहीं होते और जो पढ़े लिखे लोग नहीं हैं, लौकिक पुरुष हैं वे भी ऐसा स्वीकार करते हैं कि भगवान ईश्वर कोई एक है। अब इस ईश्वरको एक मानना सबके अपना-अपना अलग-अलग अभिप्राय है। तो उन अलग-अलग अभिप्रायोंकी बात यहाँ न कहकर एक उस पद्धतिपर विचार किया जा रहा है कि जिस पद्धतिसे यह बात तथ्यकी ओर भी आयी कि हाँ वास्तवमें परमार्थतः ईश्वर क्या है? उसके लिए संग्रह दृष्टिका आश्रय लें।

संग्रहदृष्टिसे ईश्वरके एकत्वकी निरीक्षा—संग्रहदृष्टिका प्रयोजन है सर्वका संग्रह करना। तो किसका संग्रह करना? सर्वजनोंका? सर्व आत्माओं का यह भी नहीं, किन्तु सर्व विशुद्ध आत्माओंका संग्रह करना है। अब देख लीजिए कि जो भी विशुद्ध आत्मा है वह सब एक समान होता है। तो प्रथम तो कोषमें बताया गया है कि समान अर्थमें भी 'एक' शब्दका प्रयोग होता है। एकके मायने हैं समान। यह पर्यायवाची शब्द है। कहीं "एक" (१) संख्यावाची हो तो उसका अर्थ दूसरा होता है, पर "एक" समानार्थक शब्द भी है। ईश्वर एक है, ऐसा कहनेमें यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि ईश्वर सब समान हैं, पर यहां अभी समानताके माध्यमसे एकताकी ओर जानेकी बात कह रहे हैं, वह है संग्रहदृष्टिसे। संग्रहदृष्टिसे समानको न ग्रहण करना किन्तु एकको ग्रहण करना है। तब सर्व विशुद्ध आत्माओं को निरखिये, भगवान वह होता है जो कि विशुद्ध हो। विशुद्ध वह कहलाता है जो कि अकेला हो। विशुद्ध कहो, शुद्ध कहो, अकेला कहो, केवल कहो, ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं, जो केवल आत्मा है, खालिस आत्मा ही आत्मा है उसे कहते हैं विशुद्ध आत्मा। वही विशुद्ध आत्मा परमात्मा कहा जाता है। परम आत्मा याने जो उत्कृष्ट आत्मा हो सो परमात्मा कहलाता है। उत्कृष्टता आया करती है निर्दोषताके कारण। याने जिस आत्मामें

Version 1

दोष एक भी न रहा हो उसे कहते हैं परमात्मा। अथवा परमका अर्थ उत्कृष्ट नहीं है, उत्कृष्ट अर्थ है परका "पर" मायने उत्कृष्ट मा पायने ज्ञानलक्ष्मी अर्थात् जिसके ज्ञान पूर्ण उत्कृष्ट है, विकसित है उसे कहते हैं परम, ऐसा जो आत्मा हो उसे कहते हैं परमात्मा। तो जो निर्दोष है उत्कृष्ट ज्ञानमय है ऐसे आत्माको कहते हैं परमात्मा। परमात्माका नाम भगवान भी कहा जाता है भगका अर्थ ज्ञान है, जो उत्कृष्ट ज्ञानवान हो उसे कहते हैं भगवान। तो अर्थ निकला कि जो आत्मा विशुद्ध हो, निर्मल हो उसे कहते हैं परमात्मा। उसी का नाम ईश्वर है। ईश्वर उसे कहते हैं जो ऐश्वर्ययुक्त हो। ऐश्वर्य उसे कहते हैं जहां अपना वैभव पानेमें दूसरेका मुख न तकना पड़े। जैसे एक गाँवका मालिक (मुखिया) अथवा जमींदार उसे लोग ईश्वर कहते हैं। उसे सब प्रकारकी चीजें उसकी जमीनसे ही पैदा हो जाती हैं। कपड़ा चाहिए तो कपास खेतोंमें बोकर उसका सूत काटकर कपड़े बुन लिया, नमक भी खाड़ी मिट्टीसे तैयार कर लिया, सरसोंका तैल चाहिए तो उसे भी सरसों बोकर पैदा कर लिया, यों उसे सभी वस्तुएँ जमीनमें से मिल जाती हैं। उसको किसी चीजके पानेके लिए किसी दूसरेका मुख तकनेकी जरूरत नहीं रहती, इसीलिए उसको लोग ग्रामका ईश्वर कहा करते हैं। तो जो अपने ऐश्वर्यमें स्वतंत्र हो, जिसे अपने ऐश्वर्यके लिए परकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है, जो केवल आत्मा है, परम आत्मा है, उसका जो ज्ञानानन्द ऐश्वर्य है असीम ऐश्वर्य, उसके पानेके लिए बाहरमें किसकी अपेक्षा करते हो? अरे यह आत्मा स्वयं सुखमय है, ज्ञानमय है, आनन्दस्वरूप है। तो ऐसा स्वयं ऐश्वर्यसम्पन्न जो यह परम आत्मा है, भगवान है वह ईश्वर है। अब इसके स्वरूपको देखो तो इसका स्वरूप समान है, इसका विकास बिल्कुल समान है।

प्रत्येक सत्में केवलताके नाते विशुद्धताका स्वभाव—कोई भी आत्मा हो प्रथम तो यह विचार करें कि क्या आत्मा विशुद्ध हो सकता है? तो एक इसी विज्ञानदृष्टिसे देखिये कि जो भी पदार्थ होता है वह केवल हुआ करता है। कोई भी पदार्थ अकेवल नहीं हुआ करता। कोई भी पदार्थ दो मिलकर नहीं हो सकता। पदार्थ जब सत् है तो वह केवल है। आत्मा भी यदि सत् है तो वह केवल है। जो भी जिस रूप भी सहजस्वभाव है उसका उस रूपमें ही अकेला केवल है। अब ऐसा केवल आत्मा यदि किसी प्रसंगमें बन गया द्वैतरूप द्विविधारूप, कर्ममलीमस, विकारी तो बन जाय, इतना सब कुछ होने पर भी वह स्वरूपमें केवल ही है और जो केवल होता है वह कभी प्रकट भी अवश्य हो जाया करता है। यह एक विज्ञानकी रीति है। तो जब आत्मा केवल है, संसारमें भी केवल है, मुक्तिमें भी केवल है, यहां केवलपर आवरण है, वहाँ केवलपर आवरण नहीं है। तो जो भी सत् होता है वह केवल ही रहकर सत् होता है, केवल ही होता हुआ सत् होता है। मिलकर, अन्य पदार्थोंसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तन्मय होकर कोई भी पदार्थ सत् नहीं होता, यह अकाट्य नियम है। चाहे परमाणु लो, धर्म अधर्म लो, आकाश काल लो, जो भी द्रव्य लो, जो भी सत् है, यदि कुछ है तो वह नियमसे केवल ही है। अब केवलपर आवरण होना एक दूसरे क्षेत्रकी बात है। तो केवल यह जीव है तो कितना भी यह अकेवल बन रहा है लेकिन इसमें केवलता तो है ही। केवलता नहीं मिटाई जा सकती। और जो केवलता है वह सब किसी दिन प्रकट हो सकती है, क्योंकि वह स्वरूपतः केवल है। तो इससे भी यह सिद्ध होगा कि हाँ हमारा आत्मा विशुद्ध हो सकता है, परम हो सकता है, भगवान हो सकता है, ईश्वर हो सकता है। ऐसे केवलमें केवलको भोगे तो उसमें पराधीनताकी क्या बात है? इस तरह जो भी विशुद्ध आत्मा हैं वे सब ईश्वर हैं। तो अब उन ईश्वरके स्वरूपको देखो, सबमें समानता है, अनन्त आनन्दमय है, अनन्त ज्ञानमय है। परम सूक्ष्म अमूर्त पदार्थ जो कुछ भी सहज बात है वह सब ईश्वरमें आ जाती है, सब भगवन्त समान है, तो ये सब समान हुए, और समान हुए तो वहाँ एक स्वरूप दीखा तब समान माने गए। तो इस सब ईश्वरका जो एक स्वरूप है उस स्वरूपकी दृष्टिसे इन सबका संग्रह हुआ, तब यह कहा जायगा कि ईश्वर एक है।

ईश्वरका एकत्व, अनेकत्व व अनुभयत्व—यहां चर्चा चल रही है उस वादकी कि जो वादी मानता है कि ईश्वर एक है। और दर्शन भी अनेक मानते हैं और लौकिक जन भी कहा करते हैं। तो ईश्वर एक है यह किस दृष्टिसे परखा जाता? जिससे विदित होगा कि हाँ ईश्वर एक है। तो वह है संग्रहदृष्टिका परिणाम। क्योंकि इन सबका ईश्वर का स्वरूप समान है और समान भी क्यों है? यों कि यह केवल है, उपाधिरहित है। जो उपाधिरहित होगा वह सब समान होगा। तो व्यवहारके लिए अब ऐसे जीवोंको जिन्होंने ईश्वरको समान निरखा, एक स्वरूपमें देखा, एक निरखा, जब वह व्यवहारमें आया, तब भी उस एकत्वकी रटन लगाते रहे तब समभिये—वह उस आत्माके आवरणमें है, और उससे भी पूर्व आवरणमें था। वहाँ पर भी इसने संग्रहदृष्टिका एकान्त किया। तो व्यवहार में भी जब आया तब भी ये दार्शनिक अनेकता नहीं स्वीकार करते हैं। देखिये—व्यवहार में आनेपर तो नाना ईश्वर मानना चाहिये थे, क्योंकि एक परिणमन जितनेमें होता है वह एक कहलाता है। तो प्रत्यात्म आनन्दानुभवन होता रहनेसे ऐसे नाना ईश्वर मानना चाहिए थे, लेकिन जो एक संग्रहदृष्टिमें आकर एकपना देखा गया उसका एकान्त अब व्यवहारमें भी लोग करने लगें तो वहाँ भी अनेकता उनके दृष्टिगत नहीं हो रही। जैसी दृष्टि संग्रहदृष्टि में बनाया वैसा ही उनको व्यवहारतः निरखनेमें भी वैसा जँच रहा। तब उनकी दृष्टिमें आया कि ईश्वर एक है। यों प्रत्यात्म युक्ति होनेसे यद्यपि ईश्वर अनेक हैं तथापि ईश्वर एक है। यह अभिप्राय संग्रह दृष्टिके परिणाममें बनता है। और हिन्दी स्तुतिमें कहते भी हैं

Version 1

कि — "एक माँही एक राजे, एक माँहि अनेकनो। एक अनेकनकी नहीं संख्या, नमो सिद्ध निरञ्जनो।" कोई लोग ऐसा सोचते हैं कि अनुप्रासकी वजहसे ऐसी बात कही गई है, पर ऐसी बात नहीं है। इसमें बड़ा तत्त्व भरा है। "एक माँही एक राजे" अर्थात् एकमें केवल एक ही रह रहा है। जिस सिद्ध भगवानका जो स्वरूप है वही स्वरूप उसमें है, उसमें दूसरा सिद्ध नहीं है, दूसरा स्वरूप नहीं है। वे अपने ज्ञानानन्दरूपसे परिणम रहे हैं। एकमें एक ही है, दूसरा नहीं है, फिर भी 'एकमांहि अनेकनो' – अर्थात् एकमें अनेक दिख रहे है। अब जरा उस अन्तःस्वरूपमें हटे और बाह्यस्वरूपमें आये तो वहाँ देखा कि उस एक में अनेक बस रहे हैं, जहाँ एक सिद्ध बिराजमान हैं वहां अनेक सिद्ध विराजमान हैं, क्योंकि जीव अनादिकालसे मुक्त होते चले आ रहे हैं और समझिये कि ढाईद्वीपसे ही है मुक्त होने का नियमित स्थान है और अनन्ते सिद्ध हुए हैं। तो यह कैसे हो सकता है कि जहां एक सिद्ध हो वहां दूसरा न आये। तो "एक मांहि अनेक राजे" यह ठीक हैं। लेकिन स्वरूपतः जरा दृष्टि करो। केवल एक स्वरूपको ही निगाहमें रखो, तो, अरे वहां तो "एक अनेकन की नहिं संख्या" अर्थात् वहां एक और अनेककी कुछ संख्या ही नहीं है। न वहां यह कहा जा सकता कि एक है और न यह कहा जा सकता कि अनेक है। वहां तो यही स्थिति है जो इस निज आत्मद्रव्यके विषयमें है कि वहाँ भी जो जाना गया सो ही है। यदि ऐसे विशुद्ध एकस्वरूपकी दृष्टि करके संग्रह बन गया और उस संग्रहमें यह बात निकली कि ईश्वर एक है। तो यह बात तथ्यभूत भी है, लेकिन इसका एकान्त अगर कर लिया जाय तो यह तथ्यसे अलग हो जाता है। फिर न मुक्तिकी व्यवस्था होती और न संसारकी व्यवस्था होती। फिर तो यहां कोई व्यवस्था ही नहीं बन सकती है।

प्रत्यात्म भिन्नत्वके परिचयके लिये अन्तर्वृत्तिकी समीक्षा—देखिये—मुख्य बात तो यह है कि सबको अपनी अपनी पड़ी है। दूसरेका कुछ भी हो, वह इसके चित्तमें नहीं पड़ी हुई है। कदाचित् दूसरेपर दया भी आये और दूसरेकी बाधा दूर करनेका यत्न भी यह मन से रखे तो भी दूसरेकी पड़ी है। इस कारण वह नहीं कर रहा है, किन्तु स्वयंमें उस प्रकार का विचार आया और उस वेदनाको यह नहीं सह सकता, इसलिए कर रहा है। तो हर जगह सबको अपनी अपनी पड़ी है। लोग किसीको व्यर्थ दोष देते हैं—यह तो बड़ा खुदगर्ज है, यह तो अपनी ही बात रखता है, दूसरेको कुछ समझता ही नहीं है, दूसरेकी बात सुनता ही नहीं है। अरे बात सत्य है। दूसरेकी कोई सुन ही नहीं सकता, दूसरोंको कोई कुछ समझ ही नहीं सकता। हाँ हम कहते हैं कि आचार्योंने हमपर परम करुणा की जो इतने शास्त्र रच गए हैं कि जिनके सहारेसे हम आप ज्ञान पाते हैं और संसारके संकटोंसे सुलझनेका हम

http://www.jainkosh.org

मार्ग पा लेते हैं। ठीक है, बात ऐसी कहनी ही चाहिए। उन आचार्योंके प्रति जो कृतघ्न न हो वह अपनी उन्नति कर ही नहीं सकता है। देखिये—उन आचार्य संतोंने वस्तुतः क्या किया ? एक द्रव्यकी उस ही द्रव्यमें सारी बात निरखकर उन्होंने सोचा। उनको दया भी हम आप लोगोंपर आयी होगी। हम आप तो उस समय थे ही नहीं जब कि इन ग्रन्थोंकी रचना आचार्यजनोंने की, पर मानो उनके हृदयमें यह भावना आयी थी कि आगे बहुतसे जीव ऐसे होंगे जो कि इन ग्रन्थोंका आलम्बन लेकर संसार-संकटोंसे पार हो सकते हैं और वर्तमान के बहुतसे जीव भी पार हो सकते हैं। तो उन आचार्यजनोंने हम आपपर करुणाबुद्धि की। अब कोई कहे कि देखो उन्होंने करुणाबुद्धि करके शास्त्र लिखे, उन्होंने बड़ा श्रम किया, पर कहाँ उनके उपदेशका हम आपपर कुछ असर हुआ ? अरे वहां उत्पन्न हुआ जो वास्तविक करुणाभाव है अब ऐसे करुणाभावकी परिणति जिनमें बनेगी वे अवश्य चैनसे रह सकेंगे। उनको परमार्थ करुणामयी चेष्टा उन आचार्योंके उपदेशके अनुरूप करनी पड़ेगी। निश्चयतः वे स्वात्मकरुणामें भीगे थे और भव्य जीव भी तिरे, ऐसी अन्तःवेदना थी तो अपनेको अनुकम्पित करनेवाले करुणाभावसे प्रेरित होकर उनको ग्रन्थ रचना करनी पड़ी। यहां यह बात सुनकर अपनेमें एक ऐसी उद्दण्डता नहीं लाना है कि मेरा उन्होंने क्या किया ? उनको कोई वेदना हुई तो उस वेदना को ही उन्होंने मिटाया। इस तरहकी उद्दण्डताका भाव रखनेवाले व्यक्तिको मार्ग-दर्शन न मिलेगा। हम तो उनके प्रति कृतज्ञ होकर यह बात कहेंगे कि उन संतोंने (आचार्योंने) हम आप पर करुणा बुद्धि किया था। हम आपको मार्गदर्शन करानेका भाव उनको हुआ था। उनकी इस बातको निरखकर ही तो हम उनके प्रति कृतज्ञ हुए हैं। कृतज्ञ पुरुष ही नम्र होकर, स्वके प्रति भी नम्र होकर शुद्ध मार्गपर चल सकता है। तो बात यहां यह कही जा रही थी कि सब जीवोंको निश्चयतः अपनी अपनी पड़ी है।

प्राकरणिक स्वहितचिन्तनमें ईश्वरके एकत्व व अनेकत्वके निर्णयका प्रभाव—अब जरा सोचो तो सही कि थोड़े दिनोंके लिए हम इस मनुष्यभवमें आये हैं, ये शरीर, इन्द्रियां हम आपने पायी हैं, जिनके लिए सर्व साधारणजन रात दिन परेशान रहते हैं, खाना, पीना सजाना, पोजीशन इज्जत आदिकमें बने रहते हैं, अरे यह थोड़े दिनोंके लिए पाया हुआ मूर्तिक मानव शरीर इसकी इतनी इतनी खुशामद करना, इसको बहुत बहुत पुष्ट करना, इसे बहुत बहुत मौजमें रखना यह कोई भली बात है क्या ? इससे इस आत्माका पूरा नहीं पड़नेका। आत्माका पूरा तो पड़ेगा इसमें कि जन्म मरणसे छुटकारा प्राप्त हो, इन समस्त बाह्य पदार्थोंके सम्पर्कसे छुटकारा प्राप्त हो, एक शुद्ध केवल धर्मादिक द्रव्योंकी तरह हम परिणमते रहे। अपने आपमें अपने स्वभावानुरूप बस इससे ही पूरा पड़ेगा। तो इस पूरा

http://sahjanandvarnishastra.org/

पाड़नेके लिए जब कदम उठायेंगे तो हम तब तक पूरा न पाड़ सकेंगे जब तक यह बात दृष्टिमें न हो कि भगवान अनेक हैं, भगवान अनन्त हैं, क्योंकि ईश्वर एक है, भगवान एक है। इस ही एकान्तमें हम अपने आपमें कल्याणकी बात पानेके लिए क्यों सोचेंगे ? हम आत्महितके लिए इतने संयम तपश्चरणकी बात क्यों करेंगे ? भगवान तो हो ही नहीं सकते, ईश्वरता तो आ ही नहीं सकती, ऐश्वर्य प्रकट हो नहीं सकता, परमता तो आ नहीं सकती, उत्कृष्टता तो आयगी नहीं, हम तो कोई प्राणी हैं और किसीके नचाये नाच रहे हैं, चाहे चेतनके नचाये नाचें, चाहे अचेतनके। हम तो कायर हैं..., इस प्रकारकी भावनायें उत्पन्न होंगी उसके चित्तमें, जो ईश्वरको व्यवहारतः भी एक मान रहा है तो अब समझिये कि ईश्वर एक है, ऐसी समझमें कितना कल्याणका मार्ग मिल रहा और ईश्वर एक है, इसका ही आग्रह करनेमें हमको कितना अकल्याणमें रहना पड़ रहा है ?

ईश्वरविषयक तथ्यके परिचायक स्याद्वादका जयवाद—जयवन्त रहो वह स्याद्वाद जिसके प्रतापसे हमारी सब उलझनें समाप्त हो जाती हैं। हम समझ लेते हैं कि हाँ ईश्वर तो अनन्त हैं। लेकिन उनका स्वरूप एक समान है और उसकी ही उस ईश्वरमें आदेयता है, उपादेयता है, पूज्यता है, जब कि वह समान है, एक है। यदि ईश्वर विषम है, तो वहाँ बड़ी बाधा है। मान लो ईश्वर भी अनेक बन जाय जैसा कि लौकिक जन मानते हैं कि ब्रह्मा भी ईश्वर हैं, विष्णु भी ईश्वर हैं, महेश भी ईश्वर हैं, और और भी ईश्वर हैं, आदिक अनेक ईश्वर हैं, तो अनेक ईश्वर मान लें, इसमें कोई आपत्ति नहीं, लेकिन उनका स्वरूप तो न्यारा-न्यारा विषमपद्धतिका माना जा रहा है। अरे यदि सब ईश्वर हैं तो उनका स्वरूप भी समान होना चाहिए। उनका समान स्वरूप न मानकर उनका चरित्र न्यारा-न्यारा, उनका स्वरूप न्यारा-न्यारा, उनकी वृत्ति न्यारी-न्यारी समझी हो तो जैसा अनेक कथनोंमें आता है कि फलाने देव फलाने देवके पास गए, उस देव पर बड़ी विपत्ति थी तो उस दूसरे देवने पहुंचकर उसकी विपत्ति दूर की। तो पहिले वे देव अपना ही पूरा पाड़ लें, अपनी ही विडम्बना विपदा मेट लें तब फिर दूसरोंका कल्याण करनेकी बात कही जाय। जब वे स्वयं ही जन्म मरणके संकटमें पड़े हैं तो फिर उनके प्रति किसे श्रद्धा हो सकेगी ? ईश्वर अनन्त हैं और ईश्वर एक है, वह अनन्त एक हैं और यह एक अनन्त है—इस तरहका जहाँ बोध होगा स्याद्वादके आश्रयसे वहाँ तो हमें मार्गदर्शन मिलेगा, मगर एकान्त आग्रहमें मार्गदर्शन न मिलेगा।

संग्रहदृष्टिसे ईश्वरके एकत्वका नय विवरणपूर्वक उपसंहार कथन—इस दूसरी चर्चामें यह बात बतायी गई है कि जो लोग कहते हैं कि ईश्वर एक है वह है संग्रह दृष्टिका परिणाम। देखिये यहाँ निगम अर्थात् संकल्पमात्रकी बात नहीं है। नैगमनय और संग्रहनयमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अन्तर है, संग्रहनयका भी पेटा विशाल है और नैगमनयका भी। और बताया गया है कि पूर्व पूर्व नय बड़े-बड़े विषयवाला है और उत्तर उत्तर नय सूक्ष्म विषयवाला है। तो नैगमनयने भी सबका संग्रह किया तभी तो वह नैगमनय कहलायेगा। संग्रहनयमें जो विषय किया गया, उससे बड़ा विषय तो होना ही चाहिए नैगमनयका, क्योंकि युक्ति ही बतला रही है कि पूर्व-पूर्व नय बड़े विषयवाले हैं। उत्तर-उत्तरके नय सूक्ष्म विषयवाले हैं। तो नैगमनय का विषय संग्रहनयसे भी बड़ा है और बड़ेका अर्थ यह कहलाता है कि उसके विषयमें वह भी चीज है जो संग्रहनयके विषयमें न थी, तब ही तो नैगमनयको संग्रहनयसे महाविषयवान कहेंगे। जैसे व्यवहारनयसे संग्रहनय बड़ा है, क्यों बड़ा है कि व्यवहारनयने जिस बात को कहा वह तो संग्रहनयमें पड़ी हुई है, किन्तु संग्रहनयमें ऐसी भी बात और है जो व्यवहार के विषयमें नहीं पायी जाती। तब संग्रहनयसे नैगमनय बड़ा है, क्योंकि संग्रहनयने जिसे जाना वह विषय तो नैगमनयमें पड़ा है, पर एक विषय और नैगमनयमें पड़ा है कि जिसे संग्रहनय विषय नहीं कर सकता। तब ऐसे संग्रहनयकी बात सोचो कि वह क्या है? तो नैगमनयका विषय तो सत् और असत्का अभेद कर देना है। यद्यपि सुननेमें ऐसा लग रहा होगा कि यह बात अनोखी कैसे हो सकती है? एक सत् और एक असत्। असत् मायने यह है कि जो है ही नहीं। जो है नहीं उसे और जो है उसे एक जगह मिला देना, अभेद कर देना और इतना बड़ा रूप बना देना, जो संग्रहनयसे भी बड़ा रूप हो जाय वह है नैगमनयका विषय। संग्रहनयका विषय क्या था कि सत् सत्का ही उसने संग्रह कर दिया, एक जगह मिला दिया। संग्रहनयमें सत् सत्को ही मिलानेका सामर्थ्य है, उसका ही संग्रह कर सके हैं, लेकिन नैगमगम कहता है कि हम सत्का भी संग्रह कर देंगे और असत्का संग्रह कर देंगे, लो यह बन गया नैगमनयका विषय। जैसे—कहा कि क्या कर रहे हो भाई? तो वह कहता है कि भात बना रहे हैं। और शोध रहा था वह चावलमात्र, तो हुआ क्या कि चावल तो सत् है और भात असत् है, असत् तो पके हुए भातको अभी कहेंगे। अब यहाँ सत् असत् दोनोंका अभेद कर डाला, यह हुआ नैगमनयका विषय। तो यह ईश्वर एक है यह नैगमनयसे नहीं कहा जा रहा है किन्तु संग्रहनयसे कहा जा रहा है। इसका अर्थ यह लेना कि जो वास्तवमें अनन्त ईश्वर हैं उन अनन्त ईश्वरोंका एक संग्रह करके कहते हैं कि ईश्वर एक है। संग्रह भाव होता है उस धर्मद्वारा जो धर्म सबमें समान रूपसे पाया जाय। तो वह धर्म क्या निकला? वह विशुद्धपना, कैवल्य, परमात्मत्व, ऐश्वर्य, उसकी दृष्टिसे निरखें तो यह बात तथ्यभूत है कि ईश्वर एक है। कोई व्यक्ति यह आग्रह करे कि व्यक्तिरूपसे ईश्वर एक है तो वहाँ कल्याणका मार्ग नहीं प्राप्त होता है।

ईश्वर जगतका कर्ता है इस मन्तव्यकी आधारभूत दृष्टिके खोजनेके प्रसङ्गमें अवबोध-

Version 1

नीय जगतके दो विभाग—अब यहाँ पूछा जा रहा है कि ईश्वर जगतका कर्ता है, ऐसा जो अनेक लोगोंका व कुछ दार्शनिकोंका मंतव्य है तो वह मंतव्य किस दृष्टिसे युक्त बैठ सकता है ? इस प्रश्नका समाधान पानेके लिए इस जगतको दो भावोंमें निरखियेगा—(१) भाव-जगत, (२) द्रव्यजगत। अथवा कहो—एक तो रागद्वेषादिक जो भाव संसार है उसकी दृष्टि की बात समझना है। और दूसरी समझ बतानी है दृश्यमान भौतिक पदार्थोंकी सृष्टिकी। तो संसारको दो भागोंमें निरखिये—(१) भावजगत (२) द्रव्यजगत। यहाँ यह पूछा जा रहा है कि ईश्वर जगतका कर्ता है, यह जिनका अभिप्राय बना है वह किस दृष्टिके आधार-पर बढ़ बढ़कर बनाया गया है, इसके समाधानके लिए सर्वप्रथम जगतका रूप जानना आव-श्यक है, अतएव इस जगतके विभाग बताये जा रहे हैं—एक तो रागद्वेषादिक जो कल्पना-जाल हैं, विकल्प हैं, विचार हैं, विकार हैं इनको भी जगत कहते हैं। ये कहलाते हैं भाव-संसार और जो दृश्यमान हैं ये चराचर पदार्थ समूह, ये प्राणी, ये पशुगण, ये पक्षीगण, मनुष्य-जन ये कहलाते हैं द्रव्यजगत् तथा ईंट पत्थर आदिक जो ये पौद्गलिक ठाठ हैं—ये भी हैं द्रव्यजगत। तो दोनोंको करनेवाला कौन है ? इनका ईश्वर सृष्टिकर्ता है यह बात जानने के लिए दो दृष्टियाँ आयीं, इस भाव जगतका कर्ता ईश्वर है, इसका आकार तो है सर्व सामान्य परिणमन दृष्टि और द्रव्यजगतका कर्ता ईश्वर है इसका आधार है सर्वसामान्य निमित्तदृष्टि। सामान्य सर्व परिणमन दृष्टिमें क्या बात निरखी जा रही है ? उल्टे क्रमसे इस शब्दका अर्थ लगाओ सर्वसामान्य परिणामनदृष्टि परिणमन तो देखा ही जा रहा है और वह परिणमन सबका देखा जा रहा है तथा वह सबका परिणमन सामान्यतया देखा जा रहा है। तो यों तीन दृष्टियाँ मिलकर जो एक दृष्टि बनी, उस दृष्टिके आधारपर यह सिद्ध होगा कि ईश्वर भावजगतका कर्ता है। तीन दृष्टियाँ मिलकर भी एक दृष्टि होती है क्या ? इसमें भी कोई संदेहकी बात नहीं है। जब स्याद्वादमें सप्तभङ्गी प्रक्रियामें दो दो तीन तीन दृष्टियाँ मिलाकर एक दृष्टि मानी गई है तो दृष्टियोंमें ऐसी महिमा सिद्ध है कि कितनी तरहके अंशोंको, सर्वको नहीं, किन्तु कुछ सीमित अनेक अंशोंको भी एक दृष्टिमें परख सकते हैं।

सर्वसामान्यपरिणमनदृष्टिसे ईश्वरके भावजगतके कर्तृत्वकी मान्यताका विवरण—यहाँ सर्वप्रथम देखे गये जीवोंके रागद्वेषरूप भाव परिणमन और वह परिणमन भी देखा जा रहा है सभीका और सामान्यदृष्टिसे। तो इस दृष्टिसे ही समझ होती है कि भावजगतका कर्ता ईश्वर है। अथवा चलो तीन दृष्टियाँ पृथक् पृथक् भी कह लीजिये। पहिले तो देखा परिणमन, पर्यायभाव, पर्यायविभाव और वह पर्याय सबके ही तो यहाँ हो रही है। अनन्त जीव हैं, उन सब जीवोंके ये रागद्वेषरूप परिणमन चल रहे हैं और वे सब क्या हैं ? जरा सबके अन्दर घुसे तो वहाँ मालूम पड़ा कि वह एक चैतन्य है, और वह सब है क्या ? तो

http://www.jainkosh.org

सामान्यसर्वपरिणमनदृष्टिका आधार लेकर निरखा जाय तो यह बात कही जा सकती है कि ईश्वर इस जगतका कर्ता है। इसका खुलासा यह है कि ये जो रागद्वेषादिक परिणमन हो रहे हैं इनका उपादान कारण कौन है? उपादानको कर्ता जहां बताया जा रहा है उससे बढ़कर कर्तृत्व और कहाँ बताया जायगा? तो जितने भी ये रागद्वेषादिक विभाव परिणमन हैं वे सब इस जीवके उपादानसे ही तो हुए हैं, अन्यत्र तो नहीं हुए। तो इन विकारोंका उपादान है जीव और वे जीव हैं अनन्त, जिनमें ये भाव उत्पन्न हुए हैं, पर उन सारे अनन्त जीवोंको जब एक स्वभावदृष्टिसे देखा तो सब एक वही जीव है ऐसा ज्ञात हुआ गेहुंवोंका ढेर लगा हो, वहाँ कोई यह ही तो पूछता है कि यह गेहूं किस भावमें दिया? वहाँ कोई ऐसा तो नहीं कहता कि ये अनगिनते गेहूं किन भावोंसे दिये जा रहे हैं वे करोड़ों अरबों खरबों दाने, लेकिन उन सबको एक सामान्यदृष्टिसे ही निरखा जाता है, क्योंकि पूर्ण समानता है। उन दानोंमें जैसे पूरी समानता होनेके कारण गेहुंओंको एक रूपसे निरखा जाता है इसी तरह जगतके अनन्त जीवोंमें समानता होने के कारण एक रूपसे निरखा जाता है। तो यों हुई यह सामान्य सर्व परिणमन दृष्टि। इन सब विकारोंका उपादानकर्ता है जीव और वे सब जीव एक स्वभावदृष्टिसे दिखे तो ऐसा एक वह चैतन्य वह इस भाव जगतका कर्ता है। इस तरह धीरे-धीरे परिणमन से चले, सर्वको देखा, सबमें देखा सामान्यको। इस तरह स्वभावदृष्टिसे जब सभी जीव समान हो गए और वे हुए ईश्वरके समान; तो कहा जाता है—इन सुख दुख राग द्वेष आदिका कर्ता ईश्वर है।

संभावित दृष्टिको त्यागकर विरुद्धार्थमय भाव बनानेपर अनर्थका विवरण—पहिले यहाँ संसारी जीवकी बात कही जा रही थी कि ये सब जीव भावकर्मके उपादान कर्ता हैं। फिर निरखा जा रहा था कि वे सब जीव क्या हैं? ईश्वर हैं, ईश्वरके समान हैं, क्योंकि जो शुद्ध आत्मामें मूल बात होती है वह बात तो इन सब जीवोंमें है। तो यों इनका कर्ता जीव है यों कह लो या इस भावजगतका कर्ता जीव है यों कह लो या भावजगतका कर्ता ईश्वर है यों कह लो, यह सब सर्वसामान्यपरिणमन दृष्टिसे कहनेमें आता है, पर जहाँ इस दृष्टिका तो परित्याग हो गया है अथवा कुछ समझते भी नहीं हैं कि इसमें यह दृष्टि होना चाहिए, और मानें यह कि विश्वका कर्ता ईश्वर है तो इसमें आत्मसुधारका विवेकसे खोजा जाय, विचारा जाय तो यह बात निरखना है कि यह आधार हो सकता है, लेकिन यहाँ तो सभी स्वच्छन्द होकर ऐसा ही श्रद्धान किए हुए हैं कि इस सब भावजगतका कर्ता ये सब रागद्वेष हुए, सुख दुःख हुए, पुण्य पाप हुए, इन्हें कौन कराता है? ईश्वर ही तो कराता है। तो देखिये—इन भावोंमें कितना अन्तर हो गया? उसकी मर्यादा छोड़ देनेपर कि लो जितने सुख दुःख हैं, जितने ये रागद्वेष हैं, पुण्य पाप हैं, इन सबका करनेवाला ईश्वर है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

और स्वच्छन्दता भी कितनी हो गयी ? जो समझदार बनते हैं उनके लिए कि इन सुख-दु:खादिकके हम स्वामी नहीं हैं। इनका देनेवाला तो ईश्वर है। और मुझे सुख दु:खादिक होते क्यों हैं ? यदि कर्मका कारण, कर्मोंका करनेवाला भी ईश्वर है तो इसमें हमारा दोष क्या है ? वह करता है या कराता है और फिर फल दिलाया करता है, यों उनको स्वच्छन्दता है और मनुष्यजनोंको यह स्वच्छन्दता है कि सुख दु:ख आदिकके पानेमें मेरी कोई कला नहीं है, वह तो ईश्वरकी कला है। तब वे अपने पौरुषमें दीन हो गए, अन्यथा अर्थात् यदि यह दृष्टिमें रहता कि ये सुख दु:खादिक जो होते हैं वे मेरे पुण्य पापके अनुसार होते हैं। इन पुण्य पापादिकका करनेवाला यह मैं हूं, इसलिए इन सुखादिकका लानेवाला मैं ही हूं। इस सही बातका मर्म जाने बिना देखिये क्यासे क्या विडम्बना बन गई ? जैसे एक किम्बदन्ती है कि एक सेठके घर बिल्ली पली हुई थी। उसके घर जब कोई शादी ब्याहका काम होता तो भाँवर पड़ते समय उस बिल्लीको एक टिपारेमें बन्द कर दिया जाता था। क्योंकि ऐसे अवसरपर बिल्लीका इधर उधर फिरना अशुभ माना जाता है। कुछ दिन बाद बिल्ली भी गुजर गयी, सेठ भी गुजर गया। जब सेठके लड़कोंमें से किसीकी लड़की की शादी हुई तो भाँवर पड़ते समय एक लड़का बोल उठा—ठहरो, अभी एक दस्तूर और बाकी है तब भांवर पड़ेगा। क्या ?···एक बिल्लीको टिपारेके अन्दर बन्द करना चाहिए। सो जब कहींसे बड़ी मुश्किलमें जब बिल्ली पकड़कर लायी गई, टिपारेमें बन्द की गई तब भाँवर पड़ी। अब देखिये—उसके मर्मको न समझकर क्या विडम्बना बनी ?

लोकरूढ़ धार्मिक कार्योंमें मूलदृष्टिके त्यागनेपर उन्मार्गताका प्रसङ्ग—जितने भी लोकरूढ़ धार्मिक कार्य होते हैं उनमें भी उनके मर्मको न समझकर रूढ़िवश करनेसे तो एक विडम्बना ही बनती है। और वे प्रमाण पेश करते हैं कई जगह तो ऐसे उदाहरण आये हैं, अथवा हिन्दी स्तुतिकारोंने कहा है—द्रोपदीको चीर बढ़ायो, सीता पद कमल रचाओ···, तो इसके कहनेका मर्म क्या था कि उस द्रोपदीने अथवा उस सीताने अपना शुद्ध भाव बनाया, धर्मपर अटल रहीं, उससे हुआ पुण्यका बन्ध। जिसके फलमें वैसी बात बन गयी। अब वहाँ कोई कहे कि किसी भगवानने (ईश्वरने) उनका चीर बढ़ा दिया अथवा उनके अग्निकुण्डमें कमल रचा दिया, तो ऐसी बात नहीं है। अरे धर्म करनेके फलमें कोई ईश्वर ऐसा कर देता हो सो बात नहीं, किन्तु धर्म करनेवाले जीवके साथ जो उसके ही पुण्यकर्मका बन्ध हुआ उसके फलमें स्वयमेव ही वैसा हो गया। और भी सोचिये यदि धर्म का फल लौकिक बात मान ली जाय तो फिर बताइये तपस्वी पाण्डवोंपर अथवा उन सुकु-माल, सुकौशल जैसे महापुरुषोंपर बड़े-बड़े उपसर्ग क्यों आये, उन्हें उपसर्ग क्यों सहने पड़े ? क्या वे अधर्मी थे ? तो बात यह है कि धर्मका फल तो शान्ति है। अर्थात् आत्माका जो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

चैतन्यस्वभाव है उस स्वभावपर दृष्टि होना यह धर्म है। ऐसी दृष्टि जिसको है उसको शान्ति नियमतः है। अब ऐसा धर्म करनेवाले ज्ञानी पुरुषोंके एक ऐसा विशिष्ट पुण्य बन्ध होता जो कि मिथ्यादृष्टियोंके भी सम्भव नहीं है। हो गया पुण्यबन्ध उसका कारण दूसरा है। पुण्यबन्धमें कारण रत्नत्रय नहीं है, रत्नत्रय भावके साथ रहनेवाले विशुद्ध भावोंका फल है पुण्यबंध। सूत्र जी में बताया है कि 'सम्यक्त्वं च' यह सूत्र आया है आस्रव वर्णनके प्रकरणमें, जिसका अर्थ है सीधा सम्यक्त्व भी देव आयुके आस्रवका कारण है, तो क्या यह सम्यक्त्व कर्मबन्ध करानेवाला है ? अरे उसका यह अर्थ है कि सम्यक्त्व होनेपर यदि आयुबंध हो तो देव आयुका बन्ध होता है। और वह कथन है एक मनुष्यकी दृष्टिसे। कोई सम्यग्दृष्टि मनुष्य हो, उसके होनेपर आयुकर्मका बन्ध हो तो देव आयुका बन्ध होगा, अन्यका नहीं। भले ही किसीने अन्य आयु बाँध ली हो, बादमें सम्यक्त्व हुआ, तो उसका हिसाब दूसरा रहेगा, लेकिन सम्यक्त्व सहित कोई मनुष्य आयुबन्ध करे तो देव आयुका बन्ध करेगा। जैसे दर्शन विशुद्धि भावना तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धका कारण है और वर्णन भी प्रायः किया जाता है कि सम्यग्दर्शन निर्दोष होना चाहिए, निरतिचार होना चाहिए। तो यह बताये कोई कि उस निर्दोष सम्यक्त्वका क्या तीर्थंकर प्रकृति बन्धका कारण है ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र जो मोक्ष मार्ग है वह कर्मप्रकृतिके बन्ध का कारण नहीं होता, पर सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्वके साथ-साथ जो और शुभोपयोगके भाव चलते हैं वे उनकी कर्मप्रकृतिके बन्धके कारण हैं। देखो—संसारके ये जीव जरासे भ्रममें दुःखी हो रहे हैं, इनको अपनी दृष्टि नहीं प्राप्त हो रही है। इनको अपनी दृष्टि मिले, इस प्रकारकी करुणा जगती है तो इस विशुद्धिसे तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध होता है, मगर सम्यग्दर्शन निर्दोष हो तो उससे तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध हो, सो बात नहीं है। प्रत्येक बातमें मर्म होता है, उस मर्मको जाने बिना जो कथन है उसका दुरुपयोग हो सकता है।

उपादानदृष्टिके तथ्यको त्यागकर परकर्तृत्वका आशय बनाने पर कल्याणलाभकी अपात्रता—पहिले निरखा गया कि इस भावसंसारका कर्ता यह जीव है और ये सब जीव एक समान हैं और ये सब ईश्वरके समान हैं, यों चलते-चलते लोग रूढ़िमें यह कहने लगे कि ईश्वर जगतका कर्ता है। यदि इसे स्पष्ट शब्दोंमें वर्णन किया जाता तो भ्रम न होता। यों सामान्यसर्वपरिणमन दृष्टिसे ईश्वर भावजगतका कर्ता है। यहाँ सबके स्व स्वकी उपादान दृष्टि दिलाकर उन्हें सामान्यरूपसे परखनेकी दृष्टि दिलायी गई है। इसको यदि कोई सीधे ही समझ ले तो उसका बड़ा अनर्थ है। वह पाप करनेमें स्वच्छन्द हो जायेगा और एक सम्यग्ज्ञानका प्रकाश न मिला तो वह अंधेरेमें रह जायगा। अरे परम आनन्दकी कारणभूत जो निर्विकल्प समाधि है अर्थात् अपने आपके ज्ञानस्वरूपमें अपने उपयोगको मग्न कर देना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है, इसकी पात्रता उनके कहाँ हो सकती है जो अन्य कोई ईश्वर है, मुझसे निराला है और वह सब प्राणियोंके सुख दुःखादिकका कर्ता है, ऐसी बाहिरी लम्बी दृष्टि लगाये। ऐसे अपने इस उपयोगको अपने स्रोतसे चिगाकर ऐसा लम्बा बढ़ा दिया है जिस प्राणीने, उसे समाधि कहाँसे प्राप्त होगी ?

दृश्यमान जगतका कर्ता ईश्वर है इस मंतव्यकी संभावित आधारदृष्टि—अब इसी विषयसे सम्बधित दूसरा विकल्प परखिये। द्रव्यजगत मायने यह सब द्रव्यरूप। मिट्टी, कोयला, भींत जानवर, मनुष्य आदिक जो जो कुछ भी नजर आ रहे हैं इनका करनेवाला ईश्वर है। यह किस अभिप्रायसे चल चलकर धीरे-धीरे कुछ चिग चिगकर यह निकला है ? मूलमें क्या आधारभूत दृष्टि उनकी हो सकती थी ? इस बातको अब निरखें तो इसे निमित्त प्रधान दृष्टिसे देखना होगा। इस दृष्टिका नाम है सामान्यसर्वनिमित्तदृष्टि। बात यहाँ यह सीधी है कि जैसे इस राग द्वेष सुख दुःखादिक भावोंका कर्ता जीव है यह निरखा गया उपादानदृष्टिसे तो ऐसा यहाँ यह निरखना है कि इन कार्योंका कर्ता जीव है, यह है निमित्त दृष्टिसे। जो कुछ भी यहाँ देखा जा रहा है कायके अतिरिक्त और कुछ यहाँ नहीं है। कोई मृतकाय है, कोई जीवितकाय है। बस इनका समूह ही यहाँ सब कुछ दिख रहा है। यह भींत क्या है ? मृतकाय। यह पहिले पृथ्वी रूपमें थी, फिर उसे पीसकर मिट्टीरूप बनाकर ईंटाकार तैयार कर लिया गया। तो यह मृतकायकी ही तो बात है। जैसे कोई मनुष्य गुजर गया और मनुष्यशरीर पड़ा रहा, अब उस शरीरको कोई चीथ ले, टुकड़े टुकड़े कर दे, जला दे, उसे राखरूप बना दे या किसी भी रूपमें बन जाय तो वह मृतकायकी ही तो चीज है। तो जगतमें जो कुछ दिख रहा है वह सब काय काय ही दिख रहा है—कोई मृतकाय है, कोई जीवित काय है। अब इन कायोंका करनेवाला निमित्तदृष्टिसे जीव है, सो यहाँ इस तरह बात बनती है कि एक भवसे मरण करके जीव आया और नये शरीरको इसने ग्रहण किया, लो उसका निमित्त पाकर यह शरीर ग्रहणमें होने व बढ़ने लगा, अंगोपांग हुए और जिसका जैसा कर्मोदय है उसका वहाँ शरीर बना। एकेन्द्रियके अंगोपांग नहीं होते। तो शरीरका जो यह आकार बना, पिण्ड बना, इसका निमित्त दृष्टिसे कर्ता यह जीव रहा, अर्थात् जीवका सम्बन्ध पाकर ये सब रचनायें बनीं। यद्यपि उन रचनाओंमें अन्तरङ्ग निमित्त कारण कर्मोदय है, पर उन कर्मोंका निमित्त कारण जीवविभाव है। तो जीव उनका निमित्तभूत हुआ। इस तरहसे यह कहा जा सकता कि जगतमें जो कुछ भी दिख रहा है चाहे जीवितकाय हो, चाहे मृत शरीरका रचनेवाला हो निमित्तदृष्टिसे जीव है। जीवके सम्बन्ध बिना ये कोई सकल नहीं आ सकते।

सामान्यसर्वनिमित्तदृष्टि व उसके प्रयोगका विवरण—जो सजीव शरीर हैं उनमें तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

किसीको सन्देह नहीं है कि उनका निमित्त यह जीव है और जो निकले हुए पत्थर आदिक हैं अथवा ये पिसे हुए सीमेंट आदिक हैं ये क्या चीज हैं ? जिस किसी चीजको हाथमें लेकर बतायेंगे वह जीवकाय है। सीमेन्ट, चूना, औषधि आदिक कोई भी चीज ले लो वह सब जीवका ही काय मिलेगा और किसीका नहीं। तो इनमें जीव पहिले था और उसका निमित्त पाकर इसकी काय रचना हुई थी, तो इससे यह सिद्ध है कि ये सब भौतिक पदार्थ ये जीवके निमित्तसे ही निर्मित हुए हैं और मूलमें सर्वप्रथम जीवने शरीरको ग्रहण किया, फिर जीवके रहते हुए बढ़े, फिर जीवके द्वारा छूट जाने पर भी जैसा परस्परके निमित्तनैमित्तिक भावमें हो सकता है वह होता जा रहा है। तो यहाँ इतनी बात मूलमें आयी कि इन सब परिणमनोंका रचनेवाला निमित्त दृष्टिसे यह जीव हुआ। अब यह तो हुई निमित्त दृष्टिकी बात, पर ऐसे जीव कितने हैं ? क्या एक जीव इन सबको रच रहा है ? नहीं। सर्व जीव हैं, जो जिस शरीरको ग्रहण कर रहा है उसके निमित्तसे उस शरीरकी रचना है। जिसका जिससे सम्बन्ध है उसकी वह रचना हो रही है। यों जगतमें अनन्त जीव हैं अब समझमें आयी होगी सर्वनिमित्त दृष्टि। अब इन सबको निरखना है सामान्यदृष्टिसे तो ये सभीके सभी सामान्यदृष्टिमें एक जीव ही तो हुआ, चेतन ही तो हुआ। एक ज्ञायकने, जीवने उसने ही ये सब रच दिया। निमित्तदृष्टिकी बात कर रहे हैं और उन सब जीवोंका स्वरूप ईश्वरके समान ही तो है।

ईश्वर और जीवोंके अन्तःस्वरूपका साम्य व प्रकृत चर्चा शिक्षा व अनर्थका वर्णन करते हुए प्रकृत दो चर्चाओंका उपसंहार——देखिये ईश्वरका कोई कुछ भी स्वरूप माने, जो जैसा माने, पर उस ईश्वरका अन्तः क्या स्वरूप है ? तो कहना पड़ता है कि वह तो राग-द्वेषसे रहित है और सबका जाननेवाला है। देखिये——कोई किस ही मंतव्यका माननेवाला हो, जो भी ईश्वरको मानता है उसे वीतराग और सर्वज्ञ ये दो बातें माननी ही पड़ती हैं। चाहे वे लौकिक जन हों जो कहते हों कि ईश्वर सबको रचता है। उन्हें भी यह कहना पड़ता है कि वह तो रागद्वेषसे रहित है, नहीं है रागद्वेषरहित ईश्वर तो ईश्वरकी महिमा नहीं रहती। उनको नीचा देखना पड़ेगा, किसीपर राग किया, किसीपर द्वेष किया। तो उन्हें भी कहना पड़ता है कि वह ईश्वर वीतराग है और वह सर्वज्ञ है, ऐसा न मानें तो क्या वह ईश्वर हम आपकी तरह न कुछसा ज्ञानी है ? तो इतनी बात उन्हें भी माननी पड़ती है, चाहे माननेकी पद्धति यथार्थ न बने, पर उन्हें ये दोनों बातें (वीतरागता और सर्वज्ञता) माननी पड़ती हैं। तो इस अन्तःस्वरूपकी समानतासे सब जीव ईश्वरके समान हैं, तब अब धीरे-धीरे चलकर यह बात रूढ़िमें आ गई कि ईश्वर इस समस्त संसारका रचनेवाला है। यह एक संभावित दृष्टिकी बात कही है। अब देखिये—इस दृष्टिमें शिक्षा क्या है और

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अनर्थ क्या है ? शिक्षा तो यह है, यों मान लीजिए कि निमित्तनैमित्तिक भावसे यह जगत हुआ है, इसका रचनेवाला वह विशुद्ध वीतराग सर्वज्ञ नहीं है इसमें अपना विभाव निमित्त जंचेगा। सो इस अश्रेयभावको दूर करनेका प्रयत्न होगा और ऐसा ही सही मानने पर जैसा कि शंकाकारकी चर्चा थी कि हम सबका करनेवाला कोई एक ईश्वर है तो अनर्थ यह है कि वे अपनेको कायर अनुभव करेंगे और वे कुछ पौरुष भी न कर सकेंगे तो इस तरह यह तीसरी चर्चामें और चौथी चर्चामें यह बात बतायी कि भावजगतका कर्ता यह ईश्वर है और द्रव्यजगतका कर्ता भी यह ईश्वर है, इस बातकी मान्यताका मूल आधार उनको क्या मिला होगा, उसका यह वर्णन है।

पुरुषके अकर्तृत्व व प्रकृतिके कर्तृत्वके मन्तव्यकी संभावित मूल दृष्टिका संभावन—अब यहां दो चर्चायें अन्य नवीन आ रही हैं कि प्रकृति तो है सर्वजगतका कर्ता, पुरुष रहता है सदैव अकर्ता। इससे यह जानना है कि जो मंतव्य पुरुषको अकर्ता कह रहा है उसकी मूल आधारभूत दृष्टि क्या थी और जो प्रकृतिको कर्ता कह रहा है उसकी मूल आधारभूत दृष्टि क्या है ? पुरुषका अर्थ है आत्मा और प्रकृतिका अर्थ क्या है—प्रकृतिवादी कुछ भी कहते हों और चाहे उनका कहना इस ढंगका हो कि जहाँ कोई सद्भूत पदार्थ दृष्टिमें नहीं आवे, लेकिन शीघ्र समझनेके लिए यहाँ प्रकृतिको मान लीजिए कर्मप्रकृति। इस सिद्धान्तमें यह कहा गया है कि यह सब प्रकृतिका विकार है, जो दिख रहा है और यहाँ तक कि ज्ञान भी, बुद्धि, अहंकार, शरीर, इन्द्रिय, विषय आदिक सभी चीजें ये प्रकृतिके विकार माने गए हैं। रागद्वेष सुख दुःख आदिक इन सबको करनेवाली प्रकृति है, किन्तु रागद्वेष सुखदुःखादिकका भी करनेवाला पुरुष नहीं है। इस तरहके जो विभाग करके वर्णन हैं उनमें यह समझाया जा रहा है कि जो पुरुषको अकर्ता कहा है और प्रकृतिको कर्ता कहा है सो यह किन अभिप्रायोंसे बात बनती है ? पुरुष भोक्ता है, मात्र वह कर्ता नहीं है। तो पहिले यह दृष्टि देखो कि पुरुष कर्ता नहीं है, यह किस नयसे है ? कुछ भी कि विचार करनेपर शीघ्र विदित होगा कि स्वभावदृष्टिसे प्रयोग किया गया है। पुरुष अर्थात् आत्मा याने चेतनमें जो चेतन तत्त्व है, आत्मतत्त्व है सहजभाव जो आत्माका अपनी ओरसे ही केवल सहजस्वभाव है उसमें कर्तृत्व पड़ा हुआ नहीं है, वह किसी वस्तुका कर्ता नहीं है। यद्यपि इस जीवके भावोंका निमित्त पाकर शरीररचना आदिक होती हैं, जिनका वर्णन कलकी दो चर्चाओंमें आया था, लेकिन जब स्वभावको निरखते हैं तो स्वभावतः यह जीव रागादिकका, सुख दुःखादिकका, इन बाहरी ठाठोंका कर्ता नहीं है। यह स्वभावदृष्टि यहाँ अपनाई गयी है, लेकिन स्याद्वादका आश्रय किए बिना न तो वह सिद्धान्त व्यवस्थित रह सका और न इसका स्वरूप व्यवस्थित रह सका। सिद्धान्त यों व्यवस्थित न रहा कि एकान्ततः जब यह यह मान लिया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गया कि आत्मा कर्ता नहीं है, रागद्वेषादिकका करने वाली प्रकृति है। जब यह आत्मा कर्ता ही नहीं है तो यह उनका भोक्ता कैसे बने और जब कर्ता नहीं है तो ये रागद्वेष किस उपादानमें हुआ करते हैं? वह उपादान बतलाओ तो व्यवस्थित नहीं हो सकता है--यह सिद्धान्त स्याद्वादका आश्रय किए बिना।

पुरुषस्वरूपकी मीमांसा—यहाँ यह भी देखिये कि उन अपरिणामवादियोंके पुरुषका स्वरूप भी अनोखा है। यह पुरुष, यह आत्मा ज्ञानशून्य है। ज्ञान इसकी प्रकृति नहीं है, ज्ञानस्वभाव नहीं है, ज्ञान कलंक है, लांछन है, प्रकृतिका विकार है और जब तक उसका सम्बन्ध है तब तक जीव संसारी है, यह उनका सिद्धान्त है तो तो ज्ञानरहित पुरुष किस स्वरूपमें हुआ? तो उस सिद्धान्तका यह कथन है। वह मात्र चैतन्यस्वरूप है। उस तत्त्वमें क्या होता है? चेतता है। चेतना है, उसका क्या अर्थ है? सो न वह ज्ञानरूपसे जवाब दिया जा सकता और न अन्यरूपसे कहा जा सकता है। साथ ही इस तत्त्वको वे दृष्टाकी तरहसे देख रहे हैं। जो दर्शनका स्वरूप है करीब करीब मिलाकर वैसा ही वे पुरुषका स्वरूप कहते हैं। और उस पुरुषको दृष्टा कहते हैं। ज्ञाता शब्दका प्रयोग नहीं है पुरुषके लिए, किन्तु दृष्टा शब्दका प्रयोग है उस सिद्धान्तमें। यह पुरुष दृष्टा है, ज्ञाता नहीं है। प्रकृतिका सम्बन्ध होनेसे यह ज्ञाता कहा जाता है। इस तरहका पुरुषका स्वरूप रख रहे हैं किन्तु यह स्वरूप भी व्यवस्थित नहीं रह सकता। कोई भी सत् हो वह सामान्य विशेष बिना नहीं रह सकता। यहाँसे विशेषको तो उड़ा दिया और सामान्यका आग्रह किया। इन अद्वैतवादियोंकी प्रकृति थी तो भलेके लिए कि ऐसे अद्वैतकी ओर जावें कि अनिर्वचनीय तत्त्व तक दृष्टि पहुंचे, जिसका कि कुछ निर्वाचन ही नहीं हो सकता। यों किया तो सही, मगर विशेष शून्य सामान्य कुछ चीज ही नहीं हुआ करती है। जहाँ विशेष हटा दिया वहाँ सामान्य क्या है? यदि वह चित् है, दर्शनस्वरूप है तो उस चितमें चित्त्वके कारण यह अनिवार्य है कि उसमें ज्ञेयाकार हो, जानन हो। ऐसा हुए बिना उसका चित्त्व क्या रहेगा? यों सामान्य विशेष पुरुषको न मान कर सामान्यका इतना तीव्र आग्रह किया कि जहाँ पुरुषको मात्र चैतन्यस्वरूप ही देखा गया है, ऐसा वह पुरुष कर्ता नहीं है, यह इस सिद्धान्तका भाव है और यह भाव स्वभावदृष्टिसे सिद्ध होता है। यों सभी आत्मा स्वभावदृष्टिसे अविकार चैतन्यस्वरूप हैं, उनमें विकार नहीं हैं, एक चैतन्यस्वरूपमात्र है। यहां इस दृष्टिके रखते हुए उसका जो परिणमन है वह बोधमें उपयुक्त नहीं है, ज्ञानोपयोगमें युक्त नहीं है, ज्ञानोपयोग वहाँ पड़ा नहीं है। ऐसा ज्ञानरहित केवल चैतन्यस्वरूप मात्र पुरुष कर्ता नहीं है। ऐसा इसका निरखना सामान्यका तीव्र आग्रह हो और स्वभावकी दृष्टि हो, इसमें यह अभिप्राय निकलता है कि यह आत्मा कर्ता नहीं है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पुरुषतत्त्वकी भी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मका सत्तासे अनुस्यूतता— देखिये —स्वभावपर जब दृष्टि दी जाती है तो सिद्धान्त यह बनेगा कि आत्मा कर्ता नहीं है, लेकिन आत्माका परिणमन भी नहीं है, कुछ ऐसा यदि करार कर दिया जाता है तब तो उसका सत्त्व ही कुछ न रहेगा। कोई पदार्थ है क्या ऐसा तो मान लिया जाय और वहाँ परिणमन न समझा जाय तो उसका सत्त्व किस तरह रह सकता है? यों तो कोई कह सकता है कि आकाशके सींग है, आकाशके पत्ते हैं, फूल हैं, गधेके सींग हैं। कोई कहे कि मुझे तो ये नहीं दिख रहे। अरे तो वे दिखें कैसे? वे तो अपरिणामी हैं, परिणमनवाले नहीं हैं। तो वे दिखते नहीं हैं, पर वे गधेके सींग हैं और आकाशके फूल हैं, फिर तो कुछ भी कह डालो—यों कहनेसे काम न बनेगा। जो भी सत् है वह नियमसे परिणमेगा। परिणमन ही नहीं, उसका रूप ही नहीं, कुछ बात ही नहीं, उत्पादव्ययध्रौव्य नहीं तो फिर वह सत् क्या है? इस दृष्टिसे निरखा जाय तो आत्मा परिणमनशील नहीं है। परिणमनात्मक आत्मा स्वभावदृष्टिसे कर्ता नहीं है अथवा स्वयंमें कर्तृत्व भी क्या? "है" और उसमें हो रहा है बस यह बात वहाँ पायी जा रही है। अपनेको करना क्या है और परका कोई कुछ कर सकता नहीं। इस दृष्टिसे यह आत्मा कर्ता नहीं है यह बात यहाँ विदित होती है, और ऐसी अन्तरङ्ग दृष्टि जब की गई, उस आत्माका स्वभाव निरखा गया तो इस स्वभावदृष्टिमें प्राप्त अन्तस्तत्त्व न तो अन्तरङ्ग भावका कर्ता है और न बाह्यपदार्थोंका कर्ता है। स्वभावदृष्टि है ना? तो स्वभावदृष्टिमें यह आत्मा रागद्वेषादिक भावोंका कर्ता नहीं, ज्ञानका भी कर्ता नहीं। ज्ञान होता है, वस्तु है, हो रहा है। अपने आपमें करनेकी बात क्या? और परपदार्थका कर्ता किसी प्रकार कुछ हुआ ही नहीं करता है। व्यवहारदृष्टिसे देखेंगे तो निमित्तसे भले ही कोई कह ले, पर व्यवहारदृष्टिमें भी पदार्थ तो पृथक्-पृथक् नजर आयेंगे। तब एक दूसरेका कर्ता कहांसे हो सकेगा? तो यह पुरुष बाह्य पदार्थोंका कर्ता नहीं है, यह तो सही है, पर यह अन्तरङ्ग भावका भी कर्ता नहीं है, स्वभावदृष्टिमें जब यह अभिप्राय युक्त हो जाता है कि यह पुरुष चैतन्यस्वभावी आत्मा कर्ता नहीं है, इस सम्बन्धमें थोड़ा भोक्तापनकी बात भी समझना है, किन्तु यह विषय इससे कुछ अलगका है। इसको आगेकी चर्चामें कहा जायगा।

प्रकृति कर्तृत्व व प्रकृति शब्दार्थपर विचारणा—यहाँ यह निर्णय दिया गया है कि यह पुरुष चेतन ब्रह्म आत्माका कर्ता नहीं है तब फिर कर्ता कौन है? बात तो यह सब दिख रही है। भौतिक पदार्थ है। ये जीव फिर रहे हैं, ये इन्द्रियाँ हैं, ये रागद्वेष कषाय होते हैं, बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुष हो रहे हैं, बड़े ऊँचे ज्ञान चलते हैं तो इनका कर्ता कौन है? इसका उत्तर दिया गया है कि प्रकृति कर्ता है। तो अब इस दूसरी चर्चाको यहां परखियेगा—ये रागद्वेष, शरीर, इन्द्रिय, ज्ञान, अहंकार इन सबको करनेवाली प्रकृति है, यह अभिप्राय किस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

दृष्टिसे उनका बना होगा ? विचार करनेपर यह सिद्ध होगा कि यह विचार उनका निमित्त दृष्टिसे बना होगा। यद्यपि इस सिद्धान्त वाले लोग प्रकृतिको क्या मानते हैं, किस तरह मान रहे हैं ? कोई एक मूर्तिमान रूप नहीं नजर नहीं आता, लेकिन जरा न्याय बलसे उसका रूप ठीक बैठालकर उनकी शंकापर कुछ विचार करें। प्रकृतिका अर्थ है कर्म। जीव के साथ इस अशुद्ध अवस्थामें जो कर्म लगे हुए हैं वे पौद्गलिक हैं, मूर्तिमान हैं, अत्यन्तसूक्ष्म हैं, ऐसी उन कर्मोंमें जो प्रकृति पड़ी रहती है, स्वभाव पड़ा रहता है उसे कहते हैं प्रकृति। देखिये—प्रकृति शब्दके अनेक अर्थ हैं—व्याकरण शास्त्रमें प्रकृतिका अर्थ है मौलिक शब्द प्रकृति और प्रत्यय कहलाता है विकार। जैसे 'राम' यह प्रकृति है और इसमें सु प्रत्यय लगाया—रामः, यह पद बन गया। "राम" यह प्रकृति है और 'सु' यह प्रत्यय है। तो वहाँ प्रकृतिका अर्थ क्या है कि "प्रथमं क्रियते इति प्रकृतिः," अर्थात् जो पहिलेकी हुई बात हो अर्थात् सहज दशा उसको कहते हैं प्रकृति। जब प्रत्यय न लगाया तो उस शब्दकी जो मुद्रा है उसका नाम है प्रकृति। तो इससे प्रकृतिका महत्त्व बड़ा है, वह सबसे पहिली बात है, यह विकार नहीं है अभी। यह प्रकृति अविकृत है और प्रत्यय उसका विकार है। जब प्रकृतिमें प्रत्ययरूप विकार लग जाता है तो उसका तोड़ मरोड़ होता है, प्रयोग होता है और जब उसमें कोई विकार नहीं लगता तो उस प्रकृतिको बड़ा आराम रहता है। वह बोला न जायगा, उसका प्रयोग न होगा, तो वह आराममें रहेगा। और जहाँ प्रत्यय लगा तहाँ खुद भी हैरान होता और बोलनेवाला भी हैरान कर दिया जायगा। तो वहाँ व्याकरण शास्त्रमें प्रकृतिका अर्थ विकार है और यहाँ प्रकृतिका अर्थ उन सांख्य सिद्धान्तके अनुसार है कुदरत, स्वभाव प्रकृति हो गया, पर जैनसिद्धान्तके अनुसार प्रकृतिका अर्थ है कर्मके फलदानकी जातीय शक्ति। किस प्रकारका यह फल देगा, किस प्रकारके स्वभावसे किस प्रकारके विकारकी बात देगा।

प्रकृतिके वाच्यार्थका निर्णिनीषा—प्रकृतिके वाच्यार्थके निर्णयपर ही कुछ बोला जा रहा है। लोग पहाड़ोंको देखकर कहते हैं—देखो प्रकृतिका कैसा रंग है, कितना सुहावना लग रहा है ? उनसे जरा पूछो तो सही कि हमें प्रकृतिका अर्थ तो बता दो। वह प्रकृति है क्या चीज ? बोलनेको तो प्रकृति प्रकृति हर एक कोई बोलता है पर वह प्रकृति है क्या चीज ? यह तो बताओ। दार्शनिक लोग भी बड़े-बड़े ग्रन्थ रच जायेंगे कि इस प्रकृतिसे महान होना, ज्ञान होना, अहंकार होना, ये सब रचनायें पैदा होती हैं, मगर उनसे कहा जाय कि बताओ वह प्रकृति क्या चीज है जिससे कि ये ज्ञान, अहंकार आदिक अनेक बन बैठे, ये सुहावने सारे दृश्य बन बैठे ? तो ऐसी क्या प्रकृति बतलायी जाय ? यद्यपि जो तथ्यकी बात है उससे कोई अलग नहीं हो सकता और उस प्रकृतिका रूप बनानेके लिए सत्त्व, रज, तम

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ये तीन गुण मानने भी पड़े जो कि उत्पाद व्यय ध्रौव्यके प्रतीक हैं, सत्त्व है ध्रौव्य, रज है उत्पाद और तम है व्यय, लेकिन जब प्रकृति कुछ चीज हो और उसमें सत्त्व, रज, तम ये गुण स्थापित किए जायें तब तो उनकी सब व्यवस्था बने, लेकिन गुण बताये बिना काम न चला सो वे बताने तो पड़े, लेकिन उनकी व्यवस्था न बन सकी। और व्यवस्था न बनायी गई तो किस तरह ये पदार्थ दिखे ? जब सत्त्व गुणमें आता है पदार्थ तो यह सबके लिए सुहावना और फायदेवान हो जाता है। यह प्रकृति अगर सत्त्व प्रकृतिवाली है तो यह बुराई न रखेगी, किन्तु समतामें रखेगी और श्रेयस्कर होगी। उस समय रज और तम उस पदार्थमें नहीं रहते। जब यह चीज रजो गुणमें आती है तब उत्पाद होता है, मायामय सुहावना लगता है। जब रजोगुण है तब वहाँ सत्त्व व तम नहीं हैं। लो चलो जब तमोगुण आया, तब उनके इस मंतव्यमें उस समय सत्त्व और रज नहीं हैं। जब तम हुआ तो विनाश हो गया, इस तरह पृथक्-पृथक् मान लिया गया, किन्तु वस्तु सद्भूत है और उसमें सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण निरन्तर एक साथ रहते हैं, यह हुई उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी बात। जब गुणका आधारभूत गुणी न मानें और उन गुणोंको हम बोलें और फिट करें तो कहीं फिट होगा ही नहीं। जब गुणी नहीं है तो गुण किस जगह धरे जायेंगे ? जब कोई प्रकृतिकी मुद्रा ही नहीं है, उसमें क्या गुण है, क्या मुद्रा है, जब ऐसी कोई मुद्रा ही नहीं है तो फिर इस सम्बन्धमें स्पष्ट क्या कहा जा सकता है ?

प्रकृतिके वाच्यार्थका निर्णयन—प्रकृतिवादी लोगोंका यह सिद्धान्त है कि प्रकृतिसे महान हुआ, अहंकार हुआ, उससे फिर गण हुआ, इन्द्रियाँ हुईं, फिर पाँच भूत हुए, लो पहिले तो विषय हुआ, उनसे फिर इन्द्रियाँ बनीं और प्रलय होता है तब इन्द्रियविषयोंमें मग्न हो जाता है, वह सब द्रव्य इन्द्रियमें मग्न हो जाता है और ये सब अहंकार, बुद्धिमें और बुद्धि प्रकृतिमें मग्न हो जाती है, उस समय दुनियामें कुछ नहीं रहता, खाली प्रकृति रह जाती है। इतना वर्णन करनेके बाद यह पूछा जाय कि तुम्हारे दिमागमें क्या आया ? अरे दिमाग में आया अथवा नहीं, बात तो बनी। तो प्रकृतिका पहिले रूपक सोचो कि क्या है प्रकृति ? यों तो कभी-कभी कहते हैं कि "जाट रे जाट, तेरे सिर पर लाट।" तो वह उत्तर देता है कि "तेली रे तेली, तेरे सिरपर कोल्हू"···अरे यहाँ तुक कहाँ मिला ? पहिले तो तेली शब्द आया, बादमें कोल्हू शब्द आया, यह तो तुमने तुक नहीं मिला पायी ?···अरे नहीं तुक मिली तो न सही, मगर इस कोल्हूसे तुम दब तो जाओगे, हैरान तो हो जाओगे। तो यह कोई बुद्धिके भरमानेवाली बात नहीं है। अब जरा देखिये—प्रकृति क्या चीज कहलाती है ? नदी, पहाड़, झरने आदि देखकर लोग कह उठते हैं कि ये तो प्राकृतिक दृश्य हैं, पर वह प्रकृति वास्तवमें है क्या चीज, इसपर भी तो कुछ विचार करो। तो प्रकृतिके मायने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हैं कर्म। अब देख लीजिए यह सब कर्म प्रकृतिकी लीला हैं कि नहीं। ये पहाड़ भी इस कर्मप्रकृति की लीला हैं। ये प्रकृतियाँ वैसे तो असंख्याते प्रकारकी हैं पर व्यवहार चलानेके लिये १४८ प्रकारकी प्रकृतियाँ गिनाई गयी हैं। उनमें यह भी एक प्रकृति है, उन प्रकृतियों के विपाकसे ये सब ऐसे काय बने हैं जो सुहावने लगते हैं। कितनी अद्भुत सुन्दरता है, ऐसा कोई बना भी नहीं सकता। देखिये एक ही पेड़में कितनी-कितनी प्रकारके रंग बिरंगे पत्ते हैं, फल हैं, फूल हैं, वे एक एक फूल भी कितनी ही तरहके रंगोंसे शोभित हैं, तो यह सब क्या है? यह सब इस कर्मप्रकृतिकी लीला है। अच्छा—वह प्रकृति क्या है? वह प्रकृति यद्यपि इतनी सूक्ष्म चीज है कि उसे यों बता नहीं सकते, लेकिन उनका रूपक बताया तो गया है कि ये मूर्तिक हैं, पौद्गलिक हैं। तो ऐसी प्रकृतियोंका यह सब दृश्य है। यह सारी लीला उस प्रकृतिको लक्ष्यमें लेकर आप सुनो—और जिस प्रकृतिको लक्ष्यमें लेकर सिद्धान्त बनाया हो, वे जानें।

प्रकृतिकर्तृत्वके मन्तव्यकी आधारभूत संभावित मूल दृष्टिके वर्णनका अन्तिम आख्यान—यहाँ कहा जा रहा है कि रागद्वेष, सुख दुःख, अहंकार, विडम्बना आदि समस्त चीजोंको करनेवाली यह प्रकृति है। वे नाना प्रकृतियाँ, नाम कर्मकी प्रकृतियाँ, अन्य-अन्य प्रकृतियां उदित न हों तो यह लीला कहांसे आती है? तो उन कर्मोंके विपाक होनेपर ये सब दृश्य बने हैं। इस कारण निमित्तदृष्टिमें यह कहा जायगा कि इन सबको करनेवाली कर्मप्रकृति है। यह प्रकृति भी कहांसे आयी? तो जीवके कषायभावोंका निमित्त पाकर जो ये कर्म बँधते हैं उसका नाम है प्रकृति। और उन कर्मस्पर्धकोंमें, उन कर्मप्रकृतियोंमें ऐसी प्रकृति पड़ी हुई है कि यह ज्ञानको आवृत कर दे, यह दर्शनको ढक दे, यह सुख दुःखके साधन मिला दे, यह सुख दुःखका वेदन कराये। इन प्रकृतियोंके उदयमें इस इस प्रकारके शरीरोंकी रचना बनी. इस तरह अनेक प्रकारके काम हैं, अनेक प्रकृतियां हैं, तो वह प्रकृति कर्ता है, यह बात कही गई है निमित्तदृष्टिसे। उपादानतः तो प्रत्येक पदार्थ स्वयं सत् है, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है और वह अपने आपके परिणमनसे परिणमता है। निमित्त शब्दका अर्थ है कि जो भली प्रकार अथवा निर्गतरूपसे स्नेहित हो, स्नेह करे, उसे कहते हैं निमित्त। नि का अर्थ निःशेष भी होता है और नि का अर्थ निकलना भी होता है। जो उपादानसे अलग रहता हुआ निकला रहकर उसीसे स्नेह करे उसे कहते हैं निमित्त और निमित्तमें यह बात पायी जाती है कि उपादानसे दूर रह रहकर केवल उपादानके विषम कार्यके प्रति स्नेह रख रहा है, उनके होनेपर हो और न होनेपर न हो, ऐसा अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध निमित्त-नैमित्तिकमें है। अब उस सिद्धान्तसे मिलान कीजिए। उनका कथन है कि प्रकृतिसे ज्ञान पैदा होता, बुद्धि पैदा होती। लो देखो, ज्ञानावरण प्रकृतिके क्षयोपशमसे बुद्धि पैदा होती,

http://sahjanandvarnishastra.org/

अहंकार पैदा होता, उक्त ज्ञानसे तो यद्यपि यह अहंकार नहीं पैदा हुआ और ज्ञानके कारण-भूत ज्ञानावरणप्रकृतिके क्षयोपशमसे भी नहीं हुआ, मान प्रकृतिके उदयके निमित्तसे हुआ है लेकिन अहंकारको चेतनेवाला तो ज्ञान है ना, तो ज्ञान द्वारा चेतेके बिना अहंकारका स्वरूप नहीं बनता, इसलिए लो उदित मान कषाय प्रकृति साक्षात् भी निमित्त है और प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न हुई बुद्धिके द्वारा चेता गया है, इस तरहसे अहंकारमें भी ज्ञानावरणका निमित्त पड़ा हुआ है। वह परम्परया निमित्त हो गया। अब यह निमित्त और निमित्तके निमित्त, निमित्तके निमित्त इस तरहकी दृष्टियोंको लगाकर प्रकृतिके ये सब २४ विकार सिद्ध हो जायेंगे। वे किस तरह बन जायेंगे? सो पहिले प्रकृतिवादियोंका मन्तव्य देखिये—प्रकृतिसे हुआ महान, महानसे हुआ अहंकार, अहंकारसे हुए शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध स्वरूप ५ मात्रायें व ५ बुद्धीन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां व १ मन—इस तरह १६ गुण और उनमें जो ५ विषयमात्रायें हैं उनसे हुए आकाश, वायु, आग, जल और पृथिवी। सो इन सबका साक्षात् निमित्तप्रकृति है और अहंकार जिसने चेता ऐसे उस विज्ञानको यहां अपादान कहा, सो उपचारसे। ऐसे ही आगे बढ़ते जाओ, उससे फिर इन्द्रियां हुईं, विषय हुए, फिर भूत हुए। सो यों तो निमित्त पद्धति नहीं, किन्तु ये सब प्रकृतिके विकार हैं, अर्थात् प्रकृति जो जीवके साथ लगी हुई कार्माणवर्गणायें हैं उनका निमित्त पाकर यह सारा जाल फैला हुआ है। इस तरह पुरुष कर्ता नहीं है। यह पहिली चर्चा तो स्वभावदृष्टिके आधारपर बनी है और इन सबको प्रकृति करनेवाली है। यह चर्चा निमित्त दृष्टिके आधारपर बनी है।

पुरुषाकर्तृत्व व प्रकृतिकर्तृत्वकी चर्चाके बाद पुरुषभोक्तृत्वकी मीमांस्य चर्चा—कल की चर्चामें यह वर्णन था कि पुरुष अर्थात् आत्मा रागद्वेष सुख दुःख और अन्य-अन्य भी सर्व पदार्थ इनका किसीका भी करनेवाला नहीं है और प्रकृति इनको करनेवाली है। इसका समन्वय स्वभाव दृष्टि और निमित्त दृष्टिसे करनेकी बात कही गई थी। अर्थात् आत्माके स्वभावपर दृष्टि दें तो ऐसा विदित होता है कि यह पुरुष अर्थात् आत्मा इन सब किसीका भी करनेवाला नहीं है, किन्तु इसके मायने यह न होगा कि यह आत्मा अपरिणामी है, इसमें उत्पाद व्यय होता ही नहीं है। इसी प्रकार प्रकृति निमित्त रूपसे इन सर्व अन्य बाह्य विभावोंका पर्यायोंका कर्ता है। उसका अर्थ यह है कि कर्मप्रकृतिके उदय बिना यह सब रचना हो नहीं सकती थी। यों निमित्त दृष्टिसे ऐसा है, किन्तु प्रकृति तत्त्व कोई द्रव्य, कोई पदार्थ ही न हो, कोई अस्तित्व ही न रखता हो, उसमें कारणकार्यविधान कैसे होगा? जिसमें ६ साधारण गुण और असाधारण गुण न पाये जायें, ऐसी कोई प्रकृति नहीं है। वह प्रकृति तो है पौद्गलिक कर्मप्रकृति। इन दो चर्चाओंके वर्णनके बाद अब यह चर्चा आ रही है कि कुछ सिद्धान्तोंके दार्शनिक कहते हैं कि सुख दुःखादिकका भोगनेवाला

Report any errors at vikasnd@gmail.com

पुरुष है, आत्मा है, सो यह किस नयसे अभिप्राय बन सकता है ?

अकर्ता आत्मा (पुरुष) को सुखदुःखादिभोक्ता माननेके मन्तव्यकी संभावित मूल दृष्टिकी जिज्ञासा— यहाँ इस बातकी मीमांसा करना है कि पुरुष रागद्वेष सुख दुःखादिकका करनेवाला तो नहीं है, ऐसी पहिली चर्चामें चर्चाकारने कहा था। किन्तु अब यह कहा जा रहा है कि सुखदुःखादिकका करनेवाला तो नहीं है आत्मा, लेकिन उनका भोगने वाला है। सो यह अभिप्राय किस दृष्टिका परिणाम है ? तो समाधानमें यहाँ इतना समझना चाहिए कि यह अभिप्राय निज परिणमनानुभव दृष्टिका है। अपना परिणमन सब जीवोंमें हो रहा है और उसका अनुभवन हो रहा है उस दृष्टिसे यहाँ भी यह तका गया है कि आत्मा सुख दुःख आदिकका भोक्ता है। यद्यपि जिस दृष्टिमें आत्माको अकर्ता कहा गया है कि यह रागद्वेष सुख दुःखादिकका कर्ता नहीं है तो उसही दृष्टिमें आत्मा अभोक्ता भी है अर्थात् यह आत्मा उस स्वभावदृष्टिसे देखा जाय तो न कर्ता है, न भोक्ता है, किन्तु यहाँ चर्चाकारने यह बात रखी है कि आत्मा कर्ता तो नहीं है किन्तु भोक्ता है। तो इसकी विषमताकी बात किस दृष्टिसे हो गयी ? कर्ता न था तो भोक्ता भी न होना चाहिए, पर आत्मा रागद्वेष सुख दुःख आदिकका कर्ता तो नहीं है किन्तु भोक्ता है। तो यह भोक्ता कैसे बना ? यह भोक्तापन बना है निज परिणमनानुभव दृष्टिसे। चूँकि मान तो लिया है ऐसा कि मैं ब्रह्म हूं, आत्मा हूँ, पुरुष हूं, पर बीत जो रही है उसे कहाँ टाल दें ? बीत यह रही है कि हम सुख दुःखादिकका अनुभव करते हैं ऐसे ही रागद्वेष, कषायादिकका अनुभव करते हैं तो इस अनुभवनकी बात कहां टाल दी जाय ? सो यह बात माननी पड़ी चर्चाकारोंको कि आत्मा कर्ता तो न रहा, पर भोक्ता तो होता ही है। अब इस सम्बन्धमें थोड़ा-सा विश्लेषणपूर्वक सोचें। जैसे आत्मामें स्वभावदृष्टिसे अकर्तृत्व है, इसी प्रकार भोक्तृत्व है, फिर भी जब बाहर दृष्टि देते हैं तो यहां यह बात निरखनेमें आती है कि जीवमें जो रागद्वेष सुख दुःखादि होते हैं उनका करनेवाला आत्मा नहीं है। कर्मके उदय आये हैं तो ये परिणाम हो गए अतएव निमित्त दृष्टिसे कर्मप्रकृतियां इन सुख दुःखादिककी कर्ता नहीं हैं, लेकिन जब भोगनेकी बात सामने रखी गई कि इसका भोक्ता कौन है तो कहा जा सकता है कि इसका भोक्ता प्रकृति है।

मुक्तिमार्गाभावप्रसङ्गभयसे व प्रकृतिमें भोक्तृत्वके आरोपकी गुंजाइश न होनेसे पुरुष को भोक्ता माने जानेके मंतव्यकी मूलदृष्टिकी जिज्ञासाका पूरण— यहां एक अड़चन यह भी शंकाकारने समझी है कि यदि यह कह दिया जाय कि सुख दुःखका प्रकृति भोक्ता है तो सारा फैसला हो चुका, करनेवाली भी प्रकृति हुई, भोगनेवाली भी प्रकृति हुई तो पुरुषके संसार कहां रहा ? पुरुषके सुख दुःख कहां रहा ? हो रहा सब प्रकृतिमें, इससे पुरुषको

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

क्या लेन देन रहा। जैसे यहां जीव सुख दुःख भोगते हैं तो उनके भोगनेसे इन चौकी, पत्थर आदिकको क्या हानि, लाभ है ? ये तो भोग नहीं रहे है कुछ, इसी तरह यदि प्रकृति ही जैसा करती है वैसा भोगती है, यह मान लिया जावे तो इसमें पुरुषको फिर क्या हानि रही ? इसलिए फिर मोक्षमार्गमें क्यों चलना चाहिये ? क्यों ज्ञानसाधना करना चाहिये ? यह एक अड़चन भी आती थी। इससे शंकाकारको यह कहना पड़ा कि नहीं, भोगनेवाला पुरुष है। यह भी साथमें देखो कि जैसे रागद्वेष सुख दुःखादिक परिणमनोंका कर्तापन प्रकृति में बताया जा सकता, प्रकृति निमित्तमें उसका आरोप किया जा सकता, आरोपका अर्थ है परमार्थतः वैसा नहीं होकर कुछ सम्बन्ध है इस कारणसे उसका आरोप होता है। तो प्रकृति उपादानतः चाहे कर्ता नहीं है सुख दुःखादिकका, लेकिन उसके निमित्तसे उत्पन्न हुए हैं अतएव सुख दुःखादिकके कर्तापनका आरोप बन जाता है। प्रकृतिमें लोग जब यह सोचते हैं कि सुख दुःखादिकके कर्तापनका भी आरोप प्रकृतिमें कर दिया जाय तो ऐसा आरोप किया जानेकी गुंजाइश नहीं मिल रही। इस कारण शंकाकारको यह कहना पड़ा कि सुखदुःखादिकको करनेवाली प्रकृति है, किन्तु भोगनेवाला यह पुरुष आत्मा ही है। इस तरह यह आशय किस मूलदृष्टिके आधारपर बनता है ? यह अभिप्राय निजपरिणमनके अनुभवकी दृष्टिसे है, अपने आपमें परिणमन देखा जा रहा है। अनुभव किया जा रहा है उससे विदित होता है कि पुरुष इसका भोक्ता है।

अब इस चर्चाके बाद यह चर्चा आती है कि कुछ लोग ऐसा भी कहने लगे हैं कि वस्तुमें सभी पर्यायें हैं और उनका क्रमसे आविर्भाव होता है। पदार्थमें जितनी पर्यायें हैं वे सब पदार्थमें पड़ी हुई हैं और उनका आविर्भाव क्रमशः होता है, यह दर्शन कोई नवीन नहीं है। प्राचीन दार्शनिकोंने भी यह बात कही है सत्कार्यवादके नामसे। सत्कार्यवादका अर्थ है कि पदार्थमें वे सब पर्यायें सतत मौजूद रहती हैं और कारणकूट मिलनेपर उन पर्यायोंका आविर्भाव होता है। तो जैसे कारणकूट मिलते हैं उसके अनुकूल उन पर्यायोंका आविर्भाव होता रहता है। इस सिद्धान्तसे यहां तक बात समझनेवाली बन जाती है कि बट के फलका एक दाना कितना छोटा होता है ? जो तिलके दानेसे भी छोटा होता है एक बटके फलमें सैकड़ोंकी संख्यामें दाने हुआ करते हैं। उनमें से एक दाना तिलके दानेसे भी छोटा है, उस एक दानेमें करोड़ों तो पेड़ बसे हैं और खरबों, अनगिनते फल पड़े हुए हैं, क्यों पड़े हुए हैं कि देखो उस दानेको जमीनमें बो दिया जायगा तो एक बट वृक्ष पैदा होगा और उस वृक्षमें फिर बहुतसे फल पैदा होंगे, और फिर उन फलोंके दानोंसे और भी वृक्ष उगेंगे, इस तरह जितने भी पेड़ आगे उगेंगे, जितने भी फल तथा दाने आगे उत्पन्न होंगे, वे सब अभीसे उस बट फलके बीजमें (दानेमें) पड़े हुए हैं। अब उनका क्रमसे आविर्भाव होता है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तो ऐसा जिन दार्शनिकोंने कहा है उनके इस कथनका आधारभूत अभिप्राय क्या है ? अर्थात् यह दर्शन चला, जिससे सीखा गया, उन्होंने जिससे सीखा आखिर मूलमें जो कोई भी महादार्शनिक हुए हों, इस मंतव्यके लिये उनको क्या दृष्टि आयी थी, जिसके आधारपर यह रचना बन गई है ? और यह सम्भव है कि मूलकर्ताने चाहे इस रूपके ढंगसे न कहा हो, जैसा कि आज प्रसिद्ध है और कुछ ढंग बन गया हो, लेकिन जाति तो वही थी तो वह अभिप्राय उनका किस आधार पर बना ? उसका समाधान मिलेगा नैगमदृष्टिसे अर्थात् यह अभिप्राय नैगमदृष्टिसे सिद्ध होता है ।

वस्तुमें सर्व पर्यायें हैं उनका क्रमसे आविर्भाव होता है, इस मन्तव्यकी संभावित आधार दृष्टि नैगमदृष्टि—नैगमनयका अर्थ है—निगमः संकल्पः तत्र भवः नैगमः, नैगमश्चासौ नयश्चेति नैगमनयः अर्थात् निगम कहते हैं संकल्पको । संकल्पमें जो बात आती हो उसे कहते हैं नैगम । निगम और आगम–इन दोनोंका जुदा अर्थ है । जो विधिवत् आये वह आगम कहलाता है । जिसके आगमका स्वागत हो, जिसके आगमका आदर हो, कुछ भी कह लो, जिसका आगम योगीश्वरोंको भी प्रिय हो वह है आगम और निगम कहलाता है अपने आपमें से स्वयं उत्पन्न हुआ । यहां व्याख्या कर रहे हैं एक आगम और निगमकी तुलनावाली । यहां निगमका एक साधारण संकल्प अर्थ है, पर जैसे कोई पुरुष अपने आप में विशुद्ध तत्त्वका अनुभव कर लेता है और उसही तत्त्वको आगममें देखते हैं तो उसका वर्णन उस ढंगसे मिलता है जैसा कि इसने अपने अन्तरङ्गमें अनुभव किया । तो अब यहां देखिये––वे बातें दो जगह मिलीं––(१) शास्त्रोंमें और, (२) अपने आपके अनुभवमें । जो बातें अनुभवमें मिलीं वह है निगमतत्त्व और जो बातें शास्त्रोंमें मिलीं वह है आगमतत्त्व । और कभी आगमका पहिले आश्रय करके जो भावना बनती है उसके अनुकूल अभ्यास होने से यह प्रकट होता है यों भी निगम बनता है । यहां इतने विशुद्ध निगमकी बात न कह कर यह बतला रहे हैं कि पदार्थमें पर्यायें सब मौजूद हैं, उनका क्रमसे आविर्भाव होता है, यह नैगमनयसे समझा अर्थात् यह तो जाना ही है कि जब पदार्थ है तो यह अनन्त काल तक रहेगा, इसका समूल नाश नहीं हो सकता और जब यह पदार्थ चिरकाल तक सदा रहेगा तो प्रतिसमय इसमें पर्यायें कुछ न कुछ होंगी ही ! अब जो पर्यायें होंगी यदि यह सोच लिया जाय कि बीचमें यह अमुक पर्याय न होगी तो द्रव्य टूट जायगा, उसका फिर तांता न रहेगा । इससे भी यह जाननेमें आता कि ऐसी पर्यायें द्रव्यमें निरन्तर होती रहती हैं । तब पर्यायोंको मना नहीं किया जा सकता है । साथ ही यह भी जानें कि एक साथ सब पर्यायें नहीं हुआ करती हैं, जो कल होगा सो कल ही होगा, जो परसों होगा सो परसों ही होगा । भले ही हम न जानें कि क्या होगा, लेकिन कल कुछ होना है ना, जो कुछ होना है

Version 1

वह होकर रहेगा, परसों जो कुछ होना है वह होकर रहेगा। तो पर्याय अवश्य होंगी और इस कर्मसे भी होंगी, तो ऐसी वे सब पर्यायें इसके निगममें आयीं, संकल्पमें आयीं, लेकिन उन सब पर्यायोंका समूह ही तो द्रव्य है। पर्यायको छोड़ दें, फिर हम द्रव्य क्या बतलायेंगे? तो सब धारणाओंके बाद निगम संकल्पमें यह बात बनी कि द्रव्यमें सब पर्यायें मौजूद हैं तब कारणकूट मिलनेपर उनका क्रमसे आविर्भाव होता है।

वस्तुमें वर्तमान पर्यायमात्रका सत्त्व और अन्य योग्यतायें—अब वस्तुतः निरखिये—तो पदार्थमें प्रतिसमय एक ही पर्याय रहती है। हां पर्यायें होती रहेंगी, हो रही थीं, वे सब इस द्रव्यकी थीं, इस तरह द्रव्य उन सब पर्यायोंमें गत हुआ, यों द्रव्यको निरखनेपर कहा जायगा कि द्रव्य अनन्त पर्यायवाला है। द्रव्य तो जो है सो है और वह प्रतिसमय एक पर्याय रूप रहता है। किसी भी द्रव्यमें यह बात नहीं पड़ी है कि भविष्यमें होनेवाली अनन्त पर्यायें द्रव्यमें मौजूद हों। वह प्रतिक्षण एक पर्यायात्मक है, वह उस जातिका पदार्थ है कि उसमें उस जातिके अनुकूल पर्यायें होती रहेंगी। तो वस्तुमें प्रतिसमय एक ही पर्याय रहती है, वह पर्याय दूसरे समय नहीं रहती। दूसरे समयमें दूसरी पर्यायका आविर्भाव होगा। तब उस वस्तुमें जो अनन्त पर्यायें हो चुकी थीं और जो अनन्त पर्यायें होवेंगी उन सबका संकल्पसे द्रव्यमें निवास बना लिया जाता है और तब कहा जाता है कि वस्तुमें सर्व पर्यायें हैं और उनका आविर्भाव क्रमसे होता हैं। यह सत्कार्यवादी दार्शनिक इसके समर्थनमें कुछ युक्तियाँ भी पेश करते हैं। देखो—यदि पदार्थमें वे सब पर्यायें न हों तो इसका कारण क्या है कि बटबीजसे बटवृक्ष ही उगे और अन्य जातिके वृक्ष न उगें। सत्कार्यवाद न हो तो बटबीज से खजूर अथवा गेहूं आदि उग जाय, पर ऐसा तो होता नहीं। गेहूंके बीजसे गेहूँका पेड़ उगता, चनेके बीजसे चनेका पेड़ उगता आदि। कहीं ऐसा तो नहीं होता कि गेहूंका बीज बो दिया जाय और उससे ज्वारके पेड़ उगें? अब इस तर्कका उत्तर सुनिये, देखो गेहूंका दाना बोनेसे गेहूंका ही पेड़ उगता है, तो बात वहाँ यह है कि गेंहूँका दाना इस जातिका है कि उसके उपादानसे कारणकूटके मिलनेपर गेहूंका वृक्ष ही पैदा हो सकता है ऐसी उसमें योग्यता है, वे गेहूं और बहुतसी बालियाँ, बहुतसे दाने वगैरह उस गेहूंके दानेमें बसे रहते हों, ऐसी बात नहीं है। वह तो अपनी वर्तमान पर्यायभूत है। कारणकूट मिलनेपर उस योग्यताके अनुकुल वहाँ वे सब बातें प्रकट हो जाती हैं। यदि वस्तुमें भावी परिणमन इसी समय विद्यमान है तो उनकी आविर्भूति ही क्या करनी? वे तो हैं ही। यदि कहा जाय कि प्रकट करना है अभी प्रकट नहीं है तो इसीका अर्थ है कि द्रव्यमें पर्याय योग्यतारूप है याने अमुक पर्याय हो सकती है। यदि कोई यह शंका करे कि यदि बटबीजमें पेड़ न हो तो बट पेड़को प्रकट करनेके लिये बटबीजको ही उपादानरूपमें लोग क्यों ग्रहण करते हैं तो उत्तर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

इसका यह है कि यदि बटबीजमें बटवृक्ष है ही (सर्वथा) तो कार्य ही कुछ करनेको न रहा, फिर उपादानको ही लोग क्यों ग्रहण करें ? यदि यहाँ यह शंका की जाय कि बटबीजमें यदि पेड़ आदि नहीं है तो वह किसीके द्वारा दिया ही न जा सकेगा। तो शंकाकार ही यह बता दे कि बटबीजमें सारे पेड़ व सारे बीज सब सत् ही हैं तो इस समय अंकुर ही क्यों प्रकट होता, सब ही सत् क्यों नहीं हो बैठते। सो बात यहाँ यह है कि जो कुछ किया जा रहा है वह उत्पत्तिसे पहिले कथंचित् असत् ही है, जिसको इन शब्दोंमें कह सकते हैं कि बटबीजमें अंकुर होनेकी योग्यता है, किन्तु अभी अंकुर नहीं है, सो अंकुरके योग्य उपादानभूत बीजसे कारणकूट मिलाकर अंकुर उत्पन्न किया जाता है। सारांश यह है कि वस्तुमें जब भी देखो एक पर्याय ही होगी, उसमें योग्यता है कि प्रतिनियत अनेक पर्यायें होंगी सो उन संभाव्यमान पर्यायोंका वर्तमानमें ही संकल्प कर लेनेपर यह कथन बढ़ाकर सिद्धान्त बना डालते हैं लोग कि वस्तुमें सर्वपर्यायें हैं, उनका क्रमसे आविर्भाव होता है। तो इसपर विचार करनेसे यही बात प्रमाणित होती है कि यह सब कथन नैगमदृष्टिके आधारसे चला और चलाते चलाते इसका यह रूप बन गया सीधा पूर्णनिर्णयके रूपमें कि वस्तुमें वे सब पर्यायें मौजूद ही हैं। और उनका आविर्भाव क्रमसे हुआ करता है।

'ईश्वरकी मर्जी बिना कुछ नहीं होता' इस अभिप्रायकी संभावित आधारदृष्टिकी जिज्ञासा—अब एक चर्चा लौकिक जन यह सामने लाते हैं कि देखिये—हम ही नहीं, प्रायः सारी दुनियाके मनुष्य यही कह रहे हैं कि ईश्वरकी मर्जी बिना पत्ता भी नहीं हिलता। जो करता है सो ईश्वर करता है। उसकी मर्जी न हो तो कुछ भी नहीं हो सकता है। इतनी सब पदार्थोंकी परिणतियाँ हो रही हैं, होती हैं, वे सब किस आधारसे होती हैं ? और इनमें हेतु भी यह उपस्थित किया जाता है कि देखो—कुम्हारकी मर्जी बिना घड़ा तो नहीं बनता, जुलाहाकी मर्जी बिना कपड़ा तो नहीं बनता। तो यहाँ जब मर्जी बिना काम नहीं होता तो फिर ये जो पहाड़ बन गए, यह जो घास उग गयी, ये अद्भुत काम भी बिना किसीके द्वारा बनाये कैसे बन गए ? तो उनका बनानेवाला है ईश्वर। तो उस ईश्वरकी मर्जी बिना यहाँ पत्ता तक नहीं हिलता। यह अभिप्राय किस दृष्टिके आधारपर है ? अब यहां यह निरखा जायगा कि ये सब जीव हैं, मनुष्य हैं, संज्ञी हैं, इनमें तर्क वितर्क करनेकी प्रकृति है, इनमें ज्ञान है। ज्ञानका काम तो जाननेका है। इसलिए जो कोई भी जान रहा है वह सब अपने बलसे जान रहा है, परिणतिसे जान रहा है। बात कोई इसमें अवश्य है, तो बतलावो—लोग जो यह कथन करने लगे हैं कि ईश्वरकी मर्जी बिना पत्ता नहीं हिलता है, इस कथनका आधार क्या है ? और कौनसी दृष्टि पायी गई थी, जिसके बलपर यह कथन प्रसिद्ध बन गया है ?

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

'ईश्वरकी मर्जी बिना कुछ नहीं होता है' इस अभिप्रायकी प्रसिद्धिके मूलमें सर्वज्ञत्व दृष्टिका आधार और अपूर्णज्ञानकी प्रक्रियासे मेल—इसके समाधानमें कहते हैं कि इस अभिप्रायका मूल तो सर्वज्ञत्वदृष्टि है। फिर उसमें धीरे-धीरे क्या क्या सम्पर्क किए गए कि मन्तव्यका यह रूप बन गया, यह परखनेकी बात है। सर्वज्ञत्वके मायने यह हैं कि कोई आत्मा तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थोंको एक साथ स्पष्ट जानता है। सर्वज्ञ भगवान परमात्मा त्रिकालवर्ती, त्रिलोकवर्ती द्रव्य गुण पर्याय सबको जानता है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि जो जो सर्वज्ञके ज्ञानमें जाना गया है वह वह सब होता है। चर्चाकार यहाँ इस तरह अपनी बात रख रहा कि जो जो ईश्वरकी मर्जी होती है सो होता है, इस बातको जरा कुछ आगे चलकर बतावेंगे, लेकिन यहाँ इतनी बात तो माननी होगी कि जो जो सर्वज्ञ देवके ज्ञानमें ज्ञात है वह वह होता है, वही होता है, उसके विपरीत कुछ नहीं हो सकता। यद्यपि यहाँ भी कुछ समयकी बात विचारेंगे, तो बजाय इसके यह कहना ज्यादह उपयुक्त होगा कि जो जो कुछ पदार्थमें होता है, जो हो रहा है, जो पदार्थका परिणमन होगा वह सब सर्वज्ञदेव जान रहे हैं, लेकिन बात तो दोनोमें एक समानसी आयगी ना। इसमें अन्तर तो जरूर है। वह क्या अन्तर है ? सर्वज्ञदेवने सर्व पदार्थोंको जाना, ये सर्व पदार्थ विषयभूत हुए। तो सर्वज्ञदेवका ज्ञान होनेके लिए ये सब पदार्थ आश्रयभूत कारण हुए, लेकिन इन सब पदार्थोंमें जो परिणमन हो रहा है उस परिणमनके होनेके लिए सर्वज्ञदेवका ज्ञान किसी प्रकारका भी कारण नहीं बनता। इतना यहां अन्तर है। लेकिन इतने अन्तरको गौण करके देखा जाय तो दोनोंके कथनका अर्थ एक है, जो सर्वज्ञदेवके द्वारा ज्ञात है वही होगा। जो होगा वही सर्वज्ञदेव द्वारा ज्ञात है। तो अब आगे चलो—इतनी बात तो इस ढंगमें माननी पड़ी कि जो जो सर्वज्ञने जाना है वह होगा, उसके विपरीत कुछ न होगा, लेकिन समझा तो यह है ईश्वरके उस ज्ञानके लिए, लेकिन मनुष्योंकी आदत तो अपनी मापसे दूसरोंको नापनेकी पड़ी हुई है तो यहां अपने ज्ञानको देखो—मर्जीयुक्त, इच्छारहित ज्ञानका यहां किसने परिचय किया है ? वह विशुद्ध ज्ञान जिसमें इच्छाओंका समावेश नहीं है ऐसे ज्ञानके परिचय करनेवाले क्या यहां ये लोग हैं ? प्रायः करके ये सभी लौकिक जन इच्छा सहित हैं। तो वे अपने इस ज्ञानको इस तरहका ही रूप देते हैं कि मर्जी वाला ज्ञान। कैसा ज्ञान ? ऐसी मर्जीका, इच्छा वाला, इस तरहके रागसे मिला हुआ, इस तरहसे ही तो लौकिक जन ज्ञानको देखते हैं। तो भगवानके ज्ञानको भी इसी ढंगसे उन्होंने देखा कि हाँ वहाँ भी कुछ बात है भीतर, वे बड़े हैं तो उनकी इच्छा तो जरासी होती और काम बड़ा हो जाता, यह तो अन्तर आ जायेगा बड़ा होनेकी वजहसे, मगर यह कैसे हो सकेगा कि बिना मर्जीके वह जान रहा है। बिना मर्जीके यह सब हो रहा है तो इस तरहका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सम्बन्ध जोड़कर फिर यह रूप बना कि ईश्वरकी मर्जीसे सब काम हो रहा है, इस ही ज्ञान तत्त्वको लौकिक जनोंने मर्जीका रूप दे दिया है।

लौकिक जनोंकी दृष्टिमें प्रभुकी वीतरागताके तथ्यका अपरिचय—यद्यपि ईश्वरकी इच्छा रंच मात्र भी नहीं है, और वह ज्ञान इच्छारहित है, विशुद्ध ज्ञान है, क्योंकि वह तो वीतराग है और निर्दोष है, जगतका साक्षी है, लेकिन इस विशेषताको कौन लौकिक पुरुष परखेगा ? लोगोंने तो अपने ज्ञानके साथ मर्जी रहता हुआ पाया, इसलिए मर्जीसे ही उस तत्त्वकी प्रसिद्धि की। इस तत्त्वको कहना चाहिए था ऐसा कि "जो जो देखा वीतरागने सो सो होती बीरा रे।" कहना तो इस ढंगसे चाहिए था, लेकिन ज्ञानको मर्जीमिश्रित सबने पाया। अपनेमें और दूसरेमें भी अनुमानबलपर तो उनका यह विचार हो गया कि ईश्वरकी मर्जीके बिना यहां कुछ नहीं होता। इस तरह यह चर्चा शंकाकारने चलाई कि ईश्वरकी मर्जी बिना पत्ता भी नहीं हिलता। इस अभिप्रायका आधार मूलमें सर्वज्ञत्व दृष्टि सिद्ध होती है। और उस सर्वज्ञत्व दृष्टिसे यह कहा जाना था कि प्रभुके ज्ञानमें यह सब आया है। जो प्रभुके ज्ञानमें आया है सो ही होगा और इस बातको बड़े बड़े ऋषिजन भी कहते हैं कि जिस जीवकी जो बात जिस देशमें, जिस कालमें, जिस विधानसे हुई है वह सब सर्वज्ञदेवको ज्ञात है। जो सर्वज्ञ द्वारा ज्ञात है सो ही होता है, ऐसे कथनसे कहीं यह एकान्त नहीं किया जाना है कि जो ज्ञात है सो होगा। उसमें कारणकार्य विधान कुछ नहीं बनेगा। अथवा इस कथनमें विधान शब्द जो दिया है उसमें यह सब बात पड़ी हुई है कि उत्पन्न तो जिस विधिसे हुआ सो हुआ। अब प्रभुने जान लिया तो यह कोई अपराध नहीं किया। यह तो ज्ञानकी एक विशेषता है। तो इसी बातको अपने ज्ञानके मापसे मापकर लौकिक जनोंने यह रूप दिया है कि ईश्वरकी मर्जी बिना कुछ नहीं होता। इसका आधार मूलमें सर्वज्ञत्वदृष्टि रही, उसमें अपनी पद्धतिको और मोहियोंने जोड़ दिया है।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष आदि भिन्न-भिन्न पदार्थ माने जानेकी संभावित आधारभूत दृष्टिकी जिज्ञासा—अब विशेषवादकी चर्चा समक्ष आ रही है। जिज्ञासु यहां यह जानना चाहता है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, ये तो भावात्मक पदार्थ व अभावनामक अभावात्मक ये नाना प्रकारके जो पदार्थ बनाये जाते हैं तो इतने पदार्थोंके समझने की मूलदृष्टि क्या थी ? इस जिज्ञासाकी पूर्तिके लिए प्रथम विशेषवादका ही वर्णन कुछ सुन लेना चाहिए और तभी यह सिद्ध होगा कि विशेषदृष्टिवादीके इस कारण से यह विशेषवाद बना और साथ ही तुलना भी करते जाइये कि जैन सिद्धान्तमें, स्याद्वादमें वह वर्णन किस प्रकार है और विशेषवादमें अर्थात् जहाँ विशेषका एकान्त हो जाता है वहां

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वर्णन किस प्रकार है ? स्याद्वाद सिद्धान्तमें पदार्थ ६ प्रकारके बताये गए हैं— (१) जीव, (२) पुद्गल, (३) धर्म, (४) अधर्म, (५) आकाश, (६) काल। तब विशेषवादमें पदार्थ भावात्मक तो ६ प्रकारके हैं और एक है अभावात्मक पदार्थ। भावात्मक पदार्थ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। इस बीच थोड़ा यह समझ लेना चाहिए कि पदार्थ के मूल भेद इस आधारपर बताना चाहिए कि जितने पदार्थ कहे गए हों उनमें कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थरूप न हो सके तब वह पदार्थोंकी नाम संख्या सही बनेगी। आधार सबका एक रखा है और पदार्थ कितने हैं ऐसा कहनेका मतलब भी क्या होता है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थरूप न बने, इस-इस ढंगके पदार्थ कितने हुआ करते हैं ? सामान्यतया दृष्टि यह रहा करती है। कोई इस कारणको निभा सके अथवा न निभा सके यह जुदी बात है। विशेषवादमें ६ पदार्थ बताये गए हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय। जब कि स्याद्वादमें कहे गए हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। अब इनकी तुलना कीजिए—स्याद्वादके माने गए छहोंके छहों पदार्थ विशेषवादके एक पदार्थमें ही आ गए, अर्थात् विशेषवादमें माने गए द्रव्यमें ही आ गए। तो स्याद्वादमें द्रव्यके अतिरिक्त कुछ न रहा, जब कि विशेषवाद यह कह रहा है कि द्रव्यके अतिरिक्त अभी गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय नामके पदार्थ भिन्न हैं, इससे ही आप जान गए होंगे कि यह विशेष एकान्तका परिणाम है। कुछ भी स्वरूप समझमें आय, जहां कुछ भी भेद आया कि उन्हें भिन्न पदार्थ मान लेना चाहिए। ऐसी दृष्टि रही विशेषवादमें। और स्याद्वादमें दृष्टि यह रही कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थरूप न परिणमे उतने पदार्थ मानना चाहिए और उस पदार्थमें तन्मयतासे रहनेवाली जो बातें हों वे बातें पदार्थसे अलग न मानना चाहिए, क्योंकि भावात्मक पदार्थ वे कहलाते हैं जो सत् हों। सत् वह कहलाता है जो उत्पादव्ययध्रौव्यरूप हो। बस सत्त्वके इस लक्षणके विपरीत होनेवाले विवादने ही भेद डाल दिया। विशेषवादमें माना हुआ सत्त्व एक अलग गुण है और यह पदार्थ अलग चीज है।

सत्का लक्षण विदित होनेपर अनेक समस्याओंकी सहज सुलझनका संकेत—द्रव्य माने गए ९ विशेषवादमें—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा और मन। तो इनमें जो नित्य हो वह नित्य ही है, जो अनित्य है वह अनित्य ही है। द्रव्योंमें कोई द्रव्य नित्य ही हुआ करता है, कोई द्रव्य अनित्य ही हुआ करता है, इस तरह नित्यपना, अनित्यपना—ये दोनों किसीमें भी एक साथ नहीं माने गए हैं। तो सत्ताके लक्षणमें विवाद आयगा। यदि दार्शनिक लोग सर्वप्रथम सत्ताके लक्षणोंको ही निर्विवाद मान लें, जैसे सही हो तो एक इस ही निर्णयके आधारपर सब निर्णय सही बनते चले जायेंगे। तो ये ६ प्रकारके भावात्मक पदार्थ विशेषवादमें जो कहे गए हैं, वे विशेषदृष्टिके परिणाम हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

जैसे एक यह अंगुली है और उस अंगुलीमें कोई न कोई रूप तो है ही–कालारूप हो, गोरा हो और इस अंगुलीका कुछ आकार तो है ही। चाहे कितनी ही ऊँची है, इत्याकार आकार भी है। अब इतना तो ध्यानमें लाये कोई कि जो अंगुली है वह आकार नहीं है। आकार अलग है और जो अंगुलीमें रूप है वह रूप है, अंगुली नहीं है। स्वरूप तो निराला है ना, कि रूपका ही नाम अंगुली है क्या ? या आकारका नाम ही अंगुली है क्या ? लो इतना कुछ भेद समझमें आया और वहाँ कोई एकान्त कर ले कि ये तो कई पदार्थ हैं, एक आकार भी पदार्थ है, रूप भी पदार्थ है, अंगुली भी पदार्थ है, और सीधी है तो सीध भी एक पदार्थ है। यों कुछ भी बात जरा भी भेद आया, उसका विलक्षण स्वरूप समझमें आया वह उनका अलग पदार्थ हो गया, यह विशेषदृष्टिका परिणाम है।

भेद व अभेदके समन्वयका प्रतीक—भेद और अभेदके समन्वयकी दृष्टि होना चाहिये निर्णयमें। जैसे समझिये––किसी जमानेमें गणेशकी एक मूर्ति मानी जाती थी कि कोई आदमी है और उसकी गर्दनसे हाथीका शिर जुड़ा हुआ है, उसकी सवारी चूहा है। बताइये किसी आदमीका शिर हाथी जैसा हो और फिर उसकी सवारी चूहा हो, ऐसा भी कहीं हो सकता है क्या ? असलमें वह एक सिद्धान्तका अलंकार था, लेकिन वे लोग उसका अर्थ न समझकर उस रूप ही सर्वस्व मान बैठे। अरे इस प्रकारकी मान्यता तो व्यवहार-विरुद्ध भी है, कुछ अटपटी भी है, किन्तु वह था एक अलंकार। वह अलंकार था भेदाभेद का। देखो, अभेद करो तो इस तरह करो जैसा कि गणेश जी बने हैं। उनके गर्दनसे जो हाथीका सूढ़ सहित सिर फिट है वह इस बातका प्रतीक है कि वह अभेदरूप है। वह कोई उससे अलग नहीं है, वह तो पूरा एक है। वहाँ यह नहीं देखा जा सकता कि यह इसका मुख अलग है, यह इसकी सूँढ़ अलग है और यह इसका बाकी धड़ अलग है। अब बतलाओ कहाँ तो आदमीका धड़ और कहां हाथीका सिर ? ये अलग अलग मिलाये जायें तो क्या कहीं फिट बैठेंगे ? अरे वह गणेशका प्रतीक देखिये––पैरोंसे लेकर सूँढ़के छेद तक अथवा कानों तक वह सब एक ही देवता बन गया। तो अभेद करो तो इस तरह अभेद करो। यह तो अभेदका प्रतीक था और भेदका प्रतीक था वह चूहा। भेद करो तो ऐसा करो जैसा कि चूहा। कभी चूहा घुस तो जाय किसी कागजकी दूकानमें, फिर देखो वह कैसी अपनी कला दिखाता है ? वह कागजोंके इतने बारीक टुकड़े कर देता है कि उन्हें कैंची द्वारा भी नहीं किया जा सकता। तो देखिये––यह चूहेका प्रतीक इस बातकी शिक्षा देता है कि भेद करो तो इस तरहसे करो कि जहां फिर एक टुकड़ेका दूसरा टुकड़ा किया ही न जा सके। अब देखिये—वह सवारी है भेद और सवार होनेवाला है अभेद, अर्थात् भेदके आधारसे ही फिर अभेद चमकता है, नहीं तो अभेद कहाँ बिराजेगा ? यहाँ एक पद्धति भी बताई गई है

http://sahjanandvarnishastra.org/

कि व्यवहारकी पद्धतिसे पहिले टुकड़ेके अंश अंश अविभाग प्रतिच्छेद प्रदेशभेद खूब करो—आत्माके असंख्यात प्रदेश हैं। ··· अरे उन असंख्यात प्रदेशोंमें से दो प्रदेश हमें भी दे दो, तो क्या कोई दे सकेगा ? न दे सकेगा। लेकिन अखण्ड वस्तुमें भी चूहेकी तरह भेद करें—प्रदेश अलग, गुण अलग, पर्याय अलग, यों भेद करते जावें, पर वहां कुछ अलग धरा है क्या ? ऐसा भेद धरा हुआ नहीं है, लेकिन हमें तो भेददृष्टि करना है। क्यों करना है ? तो स्याद्वाद तो कहता है समझानेके लिए और विशेषवाद कहता है उस प्रकार तत्त्व करार करनेके लिए, यह अन्तर पड़ गया। भेद दृष्टि बिना भी काम चलेगा नहीं और अभेददृष्टि बिना तत्त्व सिद्ध होगा नहीं, जिसको बताया गया है कि यदि जिनमतको समझना चाहते हो तो निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियोंको तजो मत। व्यवहारको छोड़ोगे तो तीर्थ नष्ट हो जायगा, निश्चयको छोड़ोगे तो तत्त्व नष्ट हो जायगा, लेकिन विशेषवादने भेदका एकान्त स्वीकार किया, दूसरा अभेद मंजूर नहीं, लेकिन अभेद कुछ भी माने बिना काम तो नहीं चलता। जब काम नहीं चलता तो उसकी व्यवस्था बनानेके लिए समवाय रचा गया है। तो पदार्थ है, पदार्थमें शाश्वत रहनेवाली शक्तियां हैं, वे शक्तियां गुण हैं और उन पदार्थोंमें क्रियायें होती हैं, वे क्रियायें हैं, पदार्थोंमें सामान्यपना समझमें आता वह सामान्य नामका पदार्थ है। विशेष भी दृष्टिमें आता वह विशेष पदार्थ है, और इन सबका वहां निवास है। कैसे हो गया ? अजी उसके लिए समवाय नामका सम्बन्ध बना दिया। लो कितनी व्यवस्थायें बनानी पड़ीं और फिर इतने पर भी संतोष न हुआ तो एक अभावात्मक पदार्थ भी माना। घट नहीं है तो यह "नहीं" भी एक चीज है, और वह चीज है अभावरूप। तो इस तरह विशेष पदार्थोंकी जो रचना है इस रचनाकी आधारभूत दृष्टि है विशेषदृष्टि।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुका परस्पर शाश्वत अत्यन्ताभाव न होनेसे पदार्थ संख्याकी असंगतता—अब देखिये कैसे यह विशेषपना बनाया गया ? तो इसके जब भेद प्रभेद समझे जाते हैं तब यह भली भाँति समझमें आता है। ज्ञानमें आता है कि पदार्थ ९ प्रकारके हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। अब जरा यह परखिये कि पदार्थ उतने बताना चाहिए जाति अपेक्षासे कि एक दूसरे रूप न हो सकते हों। तो अब यह व्यवस्था यहाँ घटित नहीं होती। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, ये एक दूसरे रूप हो जाते हैं। कभी पृथ्वी पानी बन जाती है, कभी पानी पृथ्वी बन जाती है। आग पानी बन जाय, पृथ्वी हवा बन जाय, सभी एक दूसरे रूप हो सकते हैं। यद्यपि बहुत जल्दीमें यह बात विदित नहीं होती है। लेकिन विचार करें तो समझमें आ जायगा। जैसे चन्द्रकान्तमणिको पृथ्वी माना गया है किन्तु उससे पानी निकलता है! अच्छा यह बतलावो—जो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

अन्न (गेहूं, दाल, चावल, चना आदि) ये सब इन चारोंमें से (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुमें से) क्या है ? विशेषवादमें बनस्पति नहीं माना गया। वह तो पृथ्वी है, तभी तो लोग इस शरीरको भी मिट्टी कहते हैं। यह शरीर मिट्टी बन जायगा, ऐसा भी लोग बोलते हैं—पर ये विशेषवादी कहते हैं कि यह शरीर इस समय भी (जीवित अवस्थामें भी) मिट्टी ही है। यह तो इस समय भी मिट्टी है। यहां तो ये जो त्रसकाय दिख रहे हैं, जिनमें, स्पर्श, रस, गंध आदि गुण दिख रहे हैं ये सब पृथ्वी हैं। तो जो अन्न खाते हैं—गेहूं, चना, ज्वार, जौ आदिक ये सब मिट्टी हैं। देख भी लो जौ की रोटी खाकर गेहूंसे भी अधिक हवा बनती, ज्वार अथवा चना आदि की रोटी खाने पर उससे भी हवा बनती। अब देखिये– चना है तो वह भी पृथ्वी है, जौ है तो वह भी पृथ्वी है, तो पृथ्वीसे हवा बन गई। तो ये चारों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) ये एक दूसरे रूप हो सकते हैं। अतः ये चारों अलग-अलग कहनेकी कोई जरूरत नहीं है। एक "पुद्गल" कह दिया, बस काम निकल आता है। जो पूरे और गले सो पुद्गल। ये दिखनेवाले समस्त काय, ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि ये सब पुद्गलमें आ गए।

विशेषवादसम्मत आकाश नामक द्रव्यपदार्थकी मीमांसा—अब और भी आगे बढ़ो, ५ वां पदार्थ है विशेषवादका आकाश। स्याद्वाद भी मानता है कि हां आकाश पदार्थ है, यह किसी दूसरे रूप नहीं हो सकता, और कोई दूसरे पदार्थ इस आकाशरूप नहीं हो सकते, लेकिन उन वैशेषिकवादियोंने आकाशके स्वरूपमें विवाद डाल दिया। विशेषवादका आकाश शब्द गुणवाला होता अथवा आकाश शब्दात्मक है। आकाशसे शब्द बन गए, इस प्रकारका कुछ आकाश है उनके मंतव्यमें। पता नहीं उन विशेषवादियोंने कोई रेडियो सुना होगा कि उनके शब्द तरंगमें आते है। शब्द दिल्लीमें चल रहे हैं और यहां सुन रहे हैं। ऐसी दृष्टि करके समझ लिया होगा कि शब्द तो आकाश का गुण है। आया कहांसे बतलाओ शब्द आकाशमें ? यों लगा शब्दात्मक आकाश है, वहांसे शब्द निकल रहे हैं। ये जितने आजके आविष्कार हैं इन्हें यह नहीं कहा जा सकता कि नवीन हैं। ऐसे कितने ही आविष्कार पहिले थे और कितने ही आविष्कार इन्द्रादिक देव रचा करते थे। जब भगवानकी दिव्यध्वनि खिरी तो उनकी वह आवाज बहुत दूर तक फैल गयी, और वह दिव्यध्वनि सर्व भाषाओंमें प्रवृत्त हो गयी, इतना उसमें अतिशय था। यह बात तो आजकलके रेडियोसे भी अधिक बढ़कर हो गयी। आजकल भी लोगों का ऐसा प्रयत्न चल रहा है कि किसी समय एक भाषामें कुछ बोला जाय तो उसको एक ही समयमें अनेक भाषाओंमें सुन लिया जाय। तो ये शब्द भी आकाशके गुण हैं, ऐसा माननेवाले इन विशेषवादियोंने कोई ऐसे ही आविष्कारसे शायद यह पाठ सीखा होगा।

http://sahjanandvarnishastra.org/

उनके मंतव्यमें गोल भी एक पदार्थ है। हाथको यों गोल-गोल घुमा दिया तो लो वह गोल भी एक पदार्थ बन गया उमके मंतव्यमें। गोल कोई द्रव्य है, पदार्थ है, प्रदेशात्मक है, इस ढंगसे नहीं स्वीकार किया गया जैसा कि लोग कहते आये, बस कहने कहनेसे ही मान लिया कि गोल भी पदार्थ है। अरे कहे कहेको माननेका तो अर्थ ही कुछ नहीं होता। जैसे सहारनपुरकी एक बात उस समयकी बताते हैं जब कि हिन्दु मुस्लिम झगड़ा चल रहा था। किसीके पास कोई खोटी चवन्नी थी, वह नहीं चल रही थी। एक दिन किसी मिठाईकी दूकान में वह चल गई। (दुकानदारने ध्यान न दिया होगा) तो वह व्यक्ति बहुत खुश हुआ और खुशीमें यह कहता हुआ उछलता फांदता चला जा रहा था कि चल गई, चल गई, चल गई। लोगोंने समझा कि गोली या लाठी चल गई। सो झट अपनी-अपनी दुकानें बन्द कर दिया और घरोंमें घुस गए। अब बताओ--बात तो कुछ न थी, केवल कहे कहे की बात थी, पर क्या उसका रूपक बना? तो केवल कहे कहे की बात माननेका कुछ अर्थ नहीं होता। ऐसे ही विशेषवादियोंने कही हुई किसी बातको सुन लिया और उससे अपना नियम बना डाला– क्या कि गोल भी एक पदार्थ है जो कि आकाशके एक एक प्रदेश पर फैला हुआ है तो उनकी यह बात कैसे मान ली जाय?

विशेषवाद सम्मत काल, दिशा, आत्मा व मन नामके द्रव्यपदार्थोंकी मीमांसा— कालको भी विशेषवादियोंने एक पदार्थ माना है। सो ठीक काल नामक पदार्थ स्याद्वादियोंने भी माना, किन्तु स्वरूप अन्यथा है जो भी समय है घड़ी, पल, मिनट अथवा घंटा, दिन, महीना, वर्ष आदि इसको एक पदार्थ उन्होंने माना है। स्याद्वादमें कालनामक एक प्रदेशी असंख्यात द्रव्य माने हैं और उनकी प्रतिक्षण समयनामक पर्याय होती रहती है। अब देखिये– उनके दिशा नामक पदार्थकी बात। बताइये दिशा भी कोई पदार्थ है क्या? अरे वह तो एक कल्पना की चीज है। सूर्य जिस ओर उदय होता उस आकाश प्रदेजका नाम पूरब रख दिया, जिस ओर अस्त होता उस आकाश प्रदेशका नाम पश्चिम रख दिया। सो ठीक ही है, पीठको भी पश्चिम बोलते हैं। पूर्वकी ओर मुँह करके खड़े होनेपर दाहिना हाथ जिस ओर हुआ उस आकाशप्रदेशका नाम दक्षिण तथा बायाँ हाथ जिस ओर हुआ उस आकाशप्रदेशका नाम उत्तर बोलते हैं। अब बतलाइये इसमें अलगसे दिशा पदार्थ माननेकी उन्हें क्या जरूरत थी? अरे दिशा तो आकाश प्रदेश श्रेणियों में कल्पना की एक चीज है। इसके बाद उनके आत्मा पदार्थकी बात देखिये—आत्माकी बात उन्होंने कहा तो सही है, जीव (आत्मा) नामक पदार्थ है, सो आत्मा उन्होंने भी कहा है, किन्तु उसके स्वरूपमें विवाद है। आत्मा सर्वव्यापक है और किस किस प्रकार है? वह चर्चा यहाँ अभी नहीं रखना है, क्योंकि विस्तृत चर्चा हो जायगी। उसका जिक्र आगे आयेगा।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

यहाँ तो इतनी बात समझ लीजिए कि उन्होंने आत्माको माना। जीव नामक पदार्थ भी है। तो उनके द्रव्योंमें अब तक चार द्रव्य आ सके पुद्गल, आकाश, काल और जीव। अब उन्होंने मन नामक जो ९ वाँ पदार्थ माना है वह तो पुद्गलमें ही शामिल है, वह कोई अलग पदार्थ नहीं, लेकिन दो पदार्थ, (धर्म और अधर्म धर्म) इनका तो नाम तक भी नहीं आया। तो जो हैं उनका नाम तक भी नहीं है और जो एकमें गर्भित हैं उनकी अलग संज्ञा दी और जो हैं नहीं उन तकका नाम है, तो कोई व्यवस्था भी बनी क्या ? नहीं बनी व्यवस्था। व्यवस्था बनानेका इनका मतलब न था, किन्तु समझमें, स्वरूपमें कुछ न्यारेपन जैसी बात आयी तो उसे अलगसे पदार्थ मान लिया, बस यही धुन रही उन विशेषवादियों की। तो इस तरह द्रव्य माने गए हैं।

विशेषवाद सम्मत गुणपदार्थकी मीमांसा—अब उन द्रव्योंमें दिखे गुण—रूप, रस, स्पर्श तो कहा—जब दिख रहे हैं और इनका लक्षण न्यारा-न्यारा है तो ये भी पदार्थ हैं। तो चलो ये गुण भी पदार्थ बन गए। और ऐसे गुण माने गए २४। अब आप यहाँ समझिये—जब हम गुणोंके नाम बोलेंगे तब ही यह ध्यानमें आता जायगा कि यह नाम बेकार लिया गया है या कुछ गुणपना भी है। यह कोई पदार्थ है क्या ? यह कोई सद्भूत है क्या ? प्रयोजन है क्या ? क्या हैं वे २४ नाम सो सुनो—रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या (१, २, ३, ४, ५ आदि) और परिमाण—(२ सेर, ३ सेर, ४ सेर, ५ सेर अथवा २ हाथ, ३ हाथ, ४ हाथ, ५ हाथ आदि) ये भी गुण हैं। पृथक्त्व अलग रहा, जुदा रह रहा, पर वह भी एक गुण है, जरा इस पर ही थोड़ा विचार कर लो। यह पृथक्त्व गुण जीव पुद्गलसे अपृथक् है। तो इसमें पृथक्त्व गुण है अपृथक् हो गया, फिर अन्यको क्या पृथक् बतायें ? जरा बताओ तो सही कि जो एक पृथक्त्व गुण है वह जीव और पुद्गलसे मिला हुआ है कि नहीं ? अगर मिला है तो विशेषवादकी हठ कहाँ रही ? एक गुण तो उसमें मिल गया और कहा कि जब पृथक्त्व न्यारा है तो जीव पुद्गल पृथक् हो ही नहीं सकते, क्योंकि पृथक्त्व गुण जुदा पड़ा हुआ है। उसकी तो किरण भी उसमें नहीं प्रवेश कर रही। ऐसे गुणोंकी बात देखते जाइये। संयोग—दो अंगुलियोंका संयोग हो गया तो वे वैशेषिक जन कहते हैं कि संयोग नामका भी एक गुण है। अच्छा बताओ ये दो अंगुली पास पास मिली हैं तो वह गुण कहाँ धरा है ? छोटी अंगुलीमें है कि बड़ी अंगुलीमें ? कहीं नहीं। किन्तु माना है कि वह तो सब जगह पड़ा हुआ है संयोग। एक गुण माना है वियोग। वियोगमें मिली हुई चीज न्यारी हो जाती तो यह वियोगगुणकी बात हुई। इसी तरह परत्व अपरत्व, छोटा बड़ा, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्न और इनके अतिरिक्त वजनदार होना, बहनेवाले होना, स्नेह होना, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द—ये २४ गुण हैं। इन गुणोंका क्या लक्षण है,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

किस तरह हुए, इनका क्या प्रवाह है ? लेकिन समझमें आना चाहिए कि कुछ ये चीज हैं, बस उन विशेषवादियोंका वह पदार्थ बन गया। पदार्थमें द्रव्यमें गुण दिखे तो बस गुणको अलगसे पदार्थ बना लिया। आत्मामें ज्ञान दिखा तो ज्ञान एक अलग चीज है, आत्मा एक अलग चीज है, ऐसी दूसरे लोगोंने हठ कर लिया, लेकिन आत्मा तो ज्ञानस्वरूप ही है। आत्मासे गुण कहाँ जुदे पड़े हुए हैं ? तो समझमें आना चाहिए कुछ अलग सी बात, अर्थात् यह ज्ञान है सो पूरा आत्मा नहीं, स्याद्वादी भी कहते। आत्मा है सो ज्ञानमात्र ही नहीं। उसमें दर्शन आदिक हैं, लो कह दिया ना स्याद्वादियोंने। तो यहाँ हम कहते थे कि ज्ञान जुदी चीज है, आत्मा जुदा है। इस तरहका विशेष एकान्त लेकर यह विशेषवादकी निष्पत्ति हुई।

विशेषवादसम्मत कर्म पदार्थकी मीमांसा—अब और देखिये—कर्म क्रिया, अगर यह हाथ गोलमटोल चल गया तो यह जो गोलमटोल क्रिया है, यह भी एक पदार्थ है। कुछ विशेष समझमें आया। तो फिर तो उनका तत्त्व बन जायगा। लेकिन सोचो तो सही कि हाथको गोलमटोल चला दिया तो क्या वह गोलमटोल क्रिया अलग चीज है और हाथ क्या अलग चीज है ? क्या हाथ अलग रखा है और वह गोल क्रिया अलग रखी है ? अलग तो नहीं है, लेकिन विशेषवादने कर्म ५ प्रकारके बता दिए–उत्क्षेपण; अवक्षेपण, आकुञ्जन, प्रसारण और गमन। ये क्या कर्म कहलाते हैं, कैसे सम्वेद्य हैं, इनका क्या स्वरूप है ? इसकी चर्चा भी कुछ कर लीजिये।

विशेषवादसम्मत कर्म पदार्थका वर्णन तथा कर्मके पृथक् सत्त्वके अभावका प्रकाशन—विशेषवादमें कर्म ५ प्रकारके माने गए हैं। नीचेसे चीज ऊपर फिकना, ऊपरसे चीज नीचे फिकना, इसे कहते हैं उत्क्षेपण और अवक्षेपण। उनकी इस क्रियाका अर्थ यह है कि वस्तुका ऊपरके भागके प्रदेशमें संयोग करा देना और नीचेके प्रदेशसे वियोग करा देना यह एक कर्म है और यह पदार्थ है, इसी प्रकार ऊपरके प्रदेशसे वियोग करा देना और नीचेके प्रदेशसे संयोग करा देना यह भी कर्म है। और पदार्थ हैं, ये कहलाये उत्क्षेपण व अवक्षेपण। और किसी चीजको टेढ़ी कर देना, गोल कर देना। जैसे सीधी अंगुलीको गोल कर दिया यह कहलाता है आकुञ्चन याने अपने ही ऊपरके प्रदेशोंको नीचे के प्रदेशोंसे मिला देना। और टेढ़ीको सीधी कर दिया इसका नाम है प्रसारण। फैलना इसीको तो कहते हैं ? कोई चीज आकुञ्चित हो और उसका विस्तार कर दिया जाय। यत्र तत्र कहींसे चले वह कहलाता है गमन। इस तरह ये ५ कर्म पदार्थ माने गए हैं। अब इसके सम्बन्धमें विचार करियेगा कि कोई एक क्या नामक पदार्थ क्रिया सद्भूत है ? भैया ! यदि सत्ताका स्वरूप, लक्षण यदि निर्णीत कर लेते तो यह विवाद न उठता। विशेषवादी ३ पदार्थोंके साथ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सत्ताका सम्बन्ध मानते हैं– द्रव्य, गुण और कर्म। सत्ताका समवाय होता है तब यह सत् कहलाता है। उन्हींसे पूछा जाय कि जब तक सत्ताका समवाय नहीं होता तब तक वह क्या है? असत् है और असत्में सत्ताका सम्बन्ध बन बैठे तो गधेके सींगमें, आकाशके फूलमें क्यों नहीं सत्ताका सम्बन्ध बनता? यदि कहो कि सत्ताका सम्बन्ध उन ही में बनता है जो कि सत् हैं, असत्में नहीं बनता तो सत् तो वह स्वयं ही था, सत्ताके सम्बन्धकी जरूरत क्या पड़ी? तो द्रव्य तो दृष्टिमें भी आता है पर गुण कोई अलग वस्तु हो और क्रिया कोई अलग चीज हो, यह सब दृष्टिमें आता ही नहीं। गुण और कर्म ये द्रव्यरूप ही पड़ते हैं।

विशेषवादमें निर्दिष्ट सामान्य व विशेष नामक पदार्थका निर्देश--अब चौथा पदार्थ विशेषवादका आता है सामान्य। इस सिद्धान्तका यह कहना है कि मनुष्य सब बैठे हैं और १०० मनुष्योंमें जो मनुष्यसामान्य है वह भी तो एक चीज है ना, वह भी एक पदार्थ है। सो देखिये पदार्थका यदि यह ही अर्थ किया जाय कि "पदका अर्थ", जो शब्द बोला उसका अर्थ। तब तो ठीक है मगर इस अर्थमें पदार्थका प्रयोग नहीं है। यहाँ पदार्थका प्रयोग किया गया है चीजमें, वस्तुमें। तो जैसे सब पुरुषोंमें रहनेवाला जो मनुष्यत्व सामान्य है वह भी तो कोई बात है, इसही को मान लिया पदार्थ! ऐसा ये विशेषवादी एक सामान्य पदार्थ मानते हैं और वह सामान्य सर्वव्यापक है। जैसे मनुष्योंमें रहनेवाला मनुष्यत्व सब जगह व्यापक है। अनेक मनुष्य सारे विश्वमें व्यापक हैं। हम आपके बीचमें जो इतनी जगह छूटी है यहाँ भी मनुष्यत्व पड़ा है तभी तो वह मनुष्यत्व सर्वव्यापक है। जहाँ यह देह आ गया वहाँ मनुष्यत्व व्यक्त हो गया और जहाँ देह नहीं है वहां भी मनुष्यत्व पड़ा है व्यक्त नहीं हो रहा। तो ऐसे मनुष्यत्वकी तरहके अनेक सामान्य पड़े हुए हैं और उन सब अनेक सामान्योंका एक सामान्य वह उनका प्रधान राजा है, वह भी सब जगह पड़ा हुआ है। विशेषवादमें कोई बात समझमें आनी तो चाहिए कि हां एक यह भी तत्त्व है बस वह एक भिन्न पदार्थ बन जाता है। एक विशेष नामका पदार्थ भी कहा गया है। जैसे एक एक मनुष्य यह विशेष है और उन मनुष्योंमें भी एक-एक विशेषण वह विशेष है और उन में भी अलग-अलग विशेषतायें इस तरहसे कितने ही विशेष हैं, वे विशेष भी पदार्थ हैं। जैसे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य ये अलग अलग चीज हैं, यों विशेष व सामान्य भी अलग पदार्थ हैं और द्रव्यमें गुण, कर्म, सामान्यका समवाय होता है, इसी प्रकार विशेषका भी समवाय होता है। तब द्रव्यादिकमें विशेषताका व्यवहार होता है।

विशेषवादसम्मत समवायनामक पदार्थ—एक पदार्थ माना गया है समवाय। समवाय यों मानना पड़ा कि जब इन सबको बिखेर दिया, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष ये

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पृथक् पृथक् हैं तो ये एक जगह कैसे आये ? इसका उत्तर कैसे बने कि आत्मामें ज्ञान है ? जब ज्ञान न्यारी है, आत्मा न्यारी चीज है तो आत्मामें ज्ञान है यह सम्बन्ध कैसे बताया जाय ? उसके लिए समवाय सम्बन्धकी बात कही गई है। समवाय सम्बन्धका अर्थ यह है कि जो आधारभूत हैं, पृथक् सिद्ध नहीं हैं उनमें जो नित्य सम्बन्ध है उसे कहते हैं समवाय। तो यह बात तो तादात्म्य कहलाती है। जैसे आत्मामें ज्ञान है, यह कभी अलग न था, अलग भी न होगा और फिर भी कहे जा रहे हैं कि यह तो अलग है। अनादिसे आत्मा और ज्ञानका समवाय है यह माना, पर इस सिद्धान्तपर भी वे न टिक सके। आत्माका मोक्ष माना गया है तब जब कि आत्मामें से ज्ञान निकल जाय, खतम हो जाय। ज्ञानशून्य आत्मा को मुक्त बताया गया है। जब ज्ञान और आत्माका समवाय सम्बन्ध कहा और समवाय सम्बन्ध कहते हैं नित्य सम्बन्धको, फिर यह मुक्तिमें ज्ञानका समवाय कैसे न रहा ? तो यह परस्पर बोल दिया जाता है और एकान्ततः व्यवस्था नहीं बनती है, लेकिन जब विशेष-वादका आग्रह होता है, पदार्थमें विशेष-विशेषकी निरख चलती है तब इस तरहके पृथक्करण कर दिए जाते हैं।

विशेषवादसम्मत अभावनामक पदार्थ—उक्त ६ तो सब बतलाये गए हैं भावात्मक पदार्थ। इनके अतिरिक्त एक माना है अभाव नामक पदार्थ। 'नहीं है' यह भी एक पदार्थ है। कमरेमें घड़ा नहीं है तो नहीं है, जैसे है यह कोई बात है, इसी प्रकार नहीं है यह भी तो कोई बात है। तो सद्भावको पदार्थ माना जाय और अभावको पदार्थ न माना जाय यह पक्ष क्यों करते हो ? उनका मंतव्य है कि जैसे सद्भाव पदार्थ है उसी प्रकार अभाव भी पदार्थ है, लेकिन तथ्य यह है कि न सद्भूत पदार्थ है, न अभाव पदार्थ है। पदार्थ है, उस पदार्थको उसके ही गुणोंकी दृष्टिसे देखते हैं तो हम सद्भाव कहते हैं। अन्यके गुणोंसे नहीं देखते हैं तो हम अभाव कहते हैं। कमरेमें घड़ा नहीं है, यह सद्भावरूप अर्थ है, अर्थात् केवल खाली कमरा है, घड़ेसे रहित कमरा है। कमरेमें घड़ा नहीं है ऐसा कहनेसे घड़ेसे शून्य कमरेका सद्भाव कहा गया है। अभाव नामक पदार्थ कोई नहीं है कि जिसमें उत्पाद-व्यय ध्रौव्य भी हो। पदार्थ वह कहलाता है कि जिसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य पाये जायें। क्या अभावमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य है ? क्या सद्भावमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य है ? वस्तुमें है। उसमें एक सत्ताका भी ज्ञान किया जाता है। तो सत्ताका ज्ञान किया जाता है तब असत्ताका भी ज्ञान किया जाता। जीव पुद्गल रूप नहीं है, यह भी ज्ञान हुआ और जीव अपने आपके गुणोंसे सद्भावरूप है यह भी एक ज्ञान हुआ। सो अभाव किसी पदार्थके सद्भावरूप है, यों अभाव कोई अलग पदार्थ नहीं है। तो यों द्रव्य, गुण, कर्म आदिक जो नाना अवस्थाओंका और पृथक् पृथक् तत्त्वोंका आग्रह हुआ है वह विशेष दृष्टिका परिणाम है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

विशेषवादसम्मत पदार्थोंमें द्रव्यकी अर्थरूपता और द्रव्यातिरिक्त पदार्थोंका द्रव्यमें समावेश—अब इन ६ भावात्मक पदार्थोंको किसी एक ही वस्तुमें देखें तो उसका ठीक स्वरूप समझमें आयगा। जैसे एक यह अंगुली है—यह काली, नीली, सफेद आदि जैसा जो कुछ हो उस समय है तो यह अंगुली ही तो उस रूपमय है। अंगुली यदि मोड़ खाकर गोल बन गई तो वह अंगुली की ही तो अवस्था हुई। जब हम सीधी टेढ़ी आदिक रूपमें न देखें, केवल अंगुलीमात्र देखें तो वही सामान्य हुआ। जब हमने इस अंगुलीको भी लम्बी मोटी आदिक रूपसे निरखा तो यह विशेष हुआ। और अंगुलीमें जो ये सारी बातें हैं वे अंगुलीमें बराबर हैं। तादात्म्य हो, वही समवाय है। तो ये ५ पदार्थ जो विशेषवादमें माने हैं, वे द्रव्यसे निराले नहीं हैं। मैं द्रव्यरूप ही हूं। तो द्रव्योंसे जो अभिन्न शक्तियाँ हैं उनका नाम गुण है। और उन सब द्रव्योंमें द्रव्यकी जातियाँ हैं। ६ द्रव्योंमें (जीव, पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल) जीव और पुद्गल क्रियावान हैं। इनमें कर्म पाया जाता है। कर्म कहो, परिणमन कहो, परिणमन तो सभी द्रव्योंमें है, किन्तु क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर जाने रूप जो क्रिया है वह जीव और पुद्गलमें है। सभी पदार्थ परिणमनशील हैं। कर्म सभीमें पाया जाता है। अब अनन्त जीवोंको देखा तो जीव सामान्य समझमें आया। तो क्या वह सामान्य कोई अलग पदार्थ है जिसका सम्बन्ध बना जीवमें, तब यह जीव कहलाया। ऐसा कोई जीवत्व सामान्य पृथक् नहीं है। जो जीव है उनमें जो जीवत्व है उस जीवत्वके सामान्यस्वरूपको देखते हैं तो वह जीव सामान्य कहलाता है। इसी तरह जब जीवोंमें प्रत्येक व्यक्तिकी विशेषताओंपर दृष्टि देते हैं—यह ज्ञानी है, यह मूढ़ है, यह क्रोधी है, यह शान्त है तो यह विशेष नजर आया। यह विशेष भी जीवसे निराली चीज है। ये सब द्रव्योंमें तादात्म्यरूपसे रह रहे हैं। गुण भी तादात्म्यरूपसे हैं। अब द्रव्यसे गुणको जब पृथक् स्वीकार कर लिया तो तादात्म्य सम्बन्धकी बात कहनेको बाध्य होना पड़ेगा, उसको समवाय कह लो। कोई समवाय नामका पदार्थ जुदा नहीं है। तो इस तरह ये सभी पदार्थ जितने विशेषवादमें बताये गए हैं वे सब मूलद्रव्यरूप पड़ते हैं, लेकिन जहाँ विशेषवादका, भेदवादका वर्णन होता है वहाँ इसका जिकर होता है और इसको ही सर्वस्व सत मान लेवे, बस यह एक विशेषवादका आग्रह बन गया। स्याद्वादमें क्या यह वर्णन नहीं चलता कि जीवमें अनन्त गुण हैं और एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता। गुणोंमें प्रतिक्षण परिणमन होता, एक परिणमन दूसरे परिणमन रूप नहीं है। तो इस तरह जब बोला जाता है तो लगता तो यों ही है कि गुण है कोई अलग चीज, आत्मा है कोई अलग चीज। जैसे गाय, बछड़ा हैं वैसे ही गुण और आत्मा होंगे अलग अलग। अरे ये कोई अलग अलग पदार्थ नहीं हैं। भेददृष्टिसे इन सबका वर्णन है, पर वर्णन है उसही एक पदार्थका। पदार्थ

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नाना न हो जायेंगे। किन्तु वह पदार्थकी तारीफ कहलायेगी। अब एक अभाव प्रमाण माना है। उसके सम्बन्धमें भी विचार करें। अभावकी कल्पना यों उत्पन्न हुई कि जिस पदार्थको देखने जाननेकी इच्छा है और वह पदार्थ मिले नहीं तो वह अभावकी बात कल्पनामें आयी। यह अभाव कोई अलग प्रमाणरूप नहीं है, किन्तु अन्यके सद्भाव रूप है। यों अखण्ड सत् पदार्थमें कल्पनाके वश भेद करते गए और वहाँ जो विशेषदृष्टि बनी बस उसी विशेषके परिणमनमें ये विशेषवादके ६ पदार्थ निकले हैं।

विशेषोंका अभेद करके परमार्थ सत्के निरीक्षणका अनुरोध—इन सब बातोंसे हमें शिक्षा क्या लेना है? यह शिक्षा लेना है कि जहाँ कोई समझे आत्मामें ज्ञान गुण है, दर्शन गुण है, दर्शनका यह स्वरूप है, ज्ञानका यह स्वरूप है, ये बातें कोई कहे तो इसे ऐसी दृष्टि लगाकर न सुनें। जैसे कि एक घड़ेमें बेर, कैंथ, बेल, आम, जामुन आदिक भरे हैं तो कोई कहे—देखो—घड़ेमें आम हैं, जामुन हैं, कैंथ हैं, बेल हैं आदि। इस तरहसे नहीं सुनना है, किन्तु यह सुनना है कि आत्मा तो वह एक अखण्ड है, वह अखण्ड आत्मा इतनी तारीफोंसे समझा जा रहा है। यह आत्माकी तारीफ है। गुण जितने हैं वे कोई पृथक् सत्रूप नहीं हैं, वे तो सदृश माने गए हैं। सर्व विशेषोंको अभेदरूपमें ढालनेका यत्न करें।

प्रतिक्षण आत्माओंके ध्वस्त होने व नवीन नवीन आत्माओंके उत्पन्न होनेके मन्तव्य की संभावित मूल दृष्टिकी जिज्ञासा—अब एक नवीन चर्चा यहाँ आ रही है। कुछ दार्शनिक लोग मानते हैं कि आत्मा क्षण-क्षणमें नवीन-नवीन उत्पन्न होता रहता है। क्षणिकवादका यह सिद्धान्त है कि इस देहमें शाश्वत आत्मा कहीं नहीं है। जो सवेरे था, जो बीचके समय थे, जो अब तक कुछ मिनट पहिले थे वे आत्मा अब नहीं हैं। आत्मा तो नया-नया उत्पन्न होता रहता है। जैसे कोई सरसोंके तैलका दीपक जलाया जा रहा है तो एक एक बूंद तैल की उस लौ के पास पहुंचती रहती है, तभी वह दीपक जल रहा। उस समय लोग ऐसा भ्रम करते कि देखो जो दीपक अभी आधा घंटा पहिले जल रहा था वही अब जल रहा है, पर ऐसी बात नहीं है। एक बूंद आया तो वह पहिला दीपक है उसके बाद जितने बूंद क्रम क्रमसे आकर जलते जायेंगे उतने वे नये-नये दीपक बनते जायेंगे। ठीक इसी तरह यह आत्मा है। एक ज्ञानक्षण, चित्तक्षण ये ही आत्मा हैं। आत्मा शाश्वत हो सो कोई वस्तु नहीं है ऐसी क्षणिकवादमें। जितने जितने क्षण हैं वही आत्मा हैं। मायने ज्ञानका जो अपना समय है और अपने जाननेके समयमें जो ज्ञानतत्त्व है बस हो चुका पदार्थ। अब वह ज्ञान आगे तो नहीं रहता। जब आगे वह ज्ञान न रहा तो कैसे कह सकते कि ज्ञान नित्य है, शाश्वत है। अरे ज्ञान है सो ही आत्मा है। जब ज्ञान शाश्वत न रहे तो आत्मा शाश्वत कैसे रहेगा? यों आत्मा क्षण-क्षणमें नवीन-नवीन उत्पन्न होता रहता है। ऐसा कुछ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

दार्शनिकोंका अभिप्राय है। इस प्रकरणमें क्षणिकवादका मूल तथ्य जाननेके लिए यह भी जानें कि यह तो कालका टुकड़ा करके एक बाद बना है, लेकिन इस सिद्धान्तमें द्रव्यका टुकड़ा, क्षेत्रका टुकड़ा और भावका टुकड़ा भी तत्त्व माना गया है। पदार्थ क्षण-क्षणमें नवीन-नवीन होता रहता है। वह अपने क्षणमें आया और मिट गया, यह तो काल अपेक्षा कथन है, पर द्रव्य अपेक्षा निरंशताका क्या कथन होगा कि बस शुद्ध केवल परमाणु परमाणु ही द्रव्य है और जो कुछ ये दिख रहे हैं स्कंध, ये सब झूठ हैं, काल्पनिक हैं, ये कुछ नहीं हैं। जब क्षेत्रके क्षणमें आते हैं तो वे निरंशप्रदेशी हैं, निरंश जगह हैं, वही क्षेत्र है, और जब भावके क्षणमें आते हैं तो क्या हैं? रूपक्षण, रसक्षण नीलक्षण, गंधक्षण, ये स्वतंत्र स्वतंत्र भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। ऐसा नहीं है कि परमाणुरूपी हो। परमाणु परमाणुमें है, वह द्रव्य अपेक्षा तत्त्व है, पर रूपक्षण अलग चीज है, रसक्षण अलग चीज है, ये स्वतंत्र स्वतंत्र पदार्थ हैं। तो क्षणिकवादमें केवल कालको ही निरंश करके प्रयोग नहीं किया गया, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन चारोंको निरंश बताया। कुतर-कुतरकर टुकड़े कर दिये गये मानों यह है क्षणिकवाद सिद्धान्त। इस सिद्धान्तमें इस समय कालकी निरंशताका खण्ड करके कहा जा रहा है कि आत्मा क्षण-क्षण में नया-नया बनता रहता है। यह किस दृष्टिका परिणमन है?

वस्तुके प्रतिक्षण नवीन नवीन उत्पादके मन्तव्यकी संभावित आधारभूत दृष्टि पर्याय दृष्टि—अब उक्त चर्चाके समाधानमें सुनो– आत्मा प्रतिक्षण नया-नया होता है। इसमें दृष्टि गई है एक एक समयके सद्भावको देखनेकी और एक समयके सद्भावको देखनेवाला होता है ऋजुसूत्रनय। तो ऋजुसूत्रनयके एकान्तसे यह तत्त्व निकलता है कि आत्मा क्षण क्षणमें नवीन नवीन उत्पन्न होता हरता है। 'अब जरा इस बातपर विचार करो– ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे तो सही है, उसे यदि उस समयका पर्याय माना जाय तो उसमें कोई विरोध नहीं है। प्रतिक्षण नवीन पर्यायें होती रहती हैं। जो सुबह था सो अब नहीं, जो अब है वह थोड़ी देर बाद न रहेगा। अगर ऐसी प्रतिक्षण नई-नई बात न मानी जाय तो अज्ञान दशासे हटकर ज्ञानदशामें आनेका मौका कैसे मिलेगा? अगर अज्ञानी है कोई तो बस अज्ञानी ही सदा रहे। वह ज्ञानी कैसे बनेगा? संसारी है कोई तो बस वह संसारी ही रहेगा। वह मुक्त कैसे हो सकेगा? तो पर्यायें बदलती रहती हैं, प्रतिक्षण नवीन-नवीन होती हैं, इसमें कोई सन्देहकी बात नहीं है, लेकिन उस पर्यायके साथ उस आत्मद्रव्यको भी उसी तरह व्येत मान लिया जाय तो यह बात न तो अनुभवमें ही आती है, न प्रत्यक्ष समझमें आती है। और न युक्तियोंसे समझमें आती है। मान लो यह ज्ञान क्षण जो हममें अब हो रहा है वह मिट गया, अब दूसरा ज्ञान हुआ वह मिट गया, तो ऐसे ही ज्ञान लेकर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नये-नये हों तो कोई विरोध नहीं है और ये ज्ञानक्षण नष्ट होते जायें तो इसमें भी कोई विरोध नहीं, किन्तु वह ज्ञानक्षणोंका स्रोतभूत जो आत्मा है वह क्षणिक नहीं है। वह तो शाश्वत है और इसकी शाश्वतता जाननेके लिए यह भी सोचिये कि किसीके उस देहमें यदि नये-नये आत्मा बनते गए, कल्पना कर लो कि क्षणिकवाद सिद्धान्तके अनुसार नये-नये ज्ञान बन रहे हैं तो जब नया-नया आत्मा बन रहा है तो इस वक्तका जो आत्मा है उसको सुबहके आत्माके द्वारा जानी गई बातका ख्याल क्यों हो जाता है? जैसे आप एक जुदा आत्मा है, हम एक जुदा है, तो आपकी बातका हम कुछ अनुभव तो नहीं कर सकते। ख्याल करते हैं तो इस समयका यह आत्मा सुबहके आत्माकी बातका अनुभव क्यों कर लेता है? इसका उत्तर देना तो आवश्यक है, यों आवश्यक है कि यह सबके अनुभवकी बात है। जो अनुभवकी बात है उसे तो कोई मना नहीं कर सकता। जैसे अग्नि गर्म होती है, यह तो सबके अनुभवकी बात है। इसे कौन मना करेगा? यदि कोई मना करे तो उसके हाथपर एक आगकी चिनगारी रख दो, बस झट उसे पता पड़ जायगा कि आग गर्म होती कि नहीं। विवशतापूर्वक किसी बातको मान लेनेमें कौनसी चतुराई है? जो बात अनुभवमें आने वाली है उसको कितना ही मना किया जाय, पर आखिर मानना ही पड़ेगा। यह अनुभवमें आनेवाली बात है कि यह आत्मा सुबह की बातको भी जान रहा है, गत क्षणकी बातको जानता है। जब यह आत्मा तो कैसे कहा जायगा कि यह आत्मा सुबहके आत्मासे जुदा है।

प्रत्येक पदार्थकी भांति आत्माकी भी नित्यानित्यात्मकता—आत्मा गत क्षणोंकी बात किस तरह जानता है? समाधानमें यद्यपि उत्तर दिया है क्षणिकवादमें कि वह सब संतानका प्रताप है। उस एक देहमें जो क्रमसे नये-नये आत्मा बनते हैं तो चूंकि वे अनवरत रूपसे बनते। वहाँ समयका अन्तर नहीं पड़ा है। लगातार वहाँ आत्मा बने तो वहाँ एक संतान बन गया। लगातार होते रहनेका नाम ही तो संतान है। उस संतानके कारण ऐसा संस्कार बन जाता है कि कोई आत्मा पहिलेकी बात भी समझ लेता है। सो संतान कह कर भले ही उत्तर दिया जाय, लेकिन जो संतान कहलाता है वही तो एक आत्मा है। जिस एक आत्मामें ये पर्यायें उत्पन्न होती रहती हैं वह आत्मा एक है। उस एक आत्मामें संस्कार पड़े हुए हैं और उस संस्कारके कारण नवीन-नवीन ज्ञानके होने पर भी चूंकि आत्मा ज्ञानमय होती है। तो पहिले की अनुभूत चीजोंको भी वह समझ जाता है। खैर इस सम्बन्धमें अधिक नहीं बढ़ता है, क्योंकि इसमें आध्यात्मिकताका प्रसंग विलम्बित हो जाता है। लेकिन इस बातको यों कहना पड़ा कि इसका सम्बन्ध अध्यात्मसे तो है ही। यह मैं आत्मा शाश्वत हूं, ज्ञानमात्र हूं, इस तरहके अनुभव करनेका आध्यात्मिक महर्षियों ने उपदेश किया है और जब यह अपनेको एक सहज ज्ञानमात्र अनुभव करता है तो उसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

निर्विकल्प एक परिचय होता है और यह ही एक मोक्षका मार्ग है। यहीं कोई बढ़ता जाय तो उसे मुक्ति प्राप्त होती है। हाँ, बढ़ते हुएमें स्थितियाँ ऐसी आयेंगी कि वह निरारम्भ होगा, निष्परिग्रह बनेगा, क्योंकि सपरिग्रहकी स्थितिमें ज्ञानमें ज्ञानके प्रतिष्टित होनेका सम्बन्ध नहीं बनता है, वह अधिक नहीं ठहर सकता है तब ये स्थितियाँ आती हैं, जिनको चरणानुयोगमें भली प्रकार बताया है। पर अपने आपकी सही समझ बनाना तो आवश्यक है ही, यह मैं आत्मा शाश्वत हूं और इस मुझमें प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है। इस तरहका यह स्याद्वादका शासन है।

स्याद्वादशासनसे विपरीत मान्यताओंमें विडम्बनाओंका अवसर—स्याद्वादके विपरीत जो कुछ कहा जाता है तो वह भी कहा तो किसी सचेतनने ही और बड़े-बड़े संन्यासियों ने। जो एक आत्महितके इच्छुक थे, कल्याण चाहते थे, उन्होंने वहीं बेईमानी करनेके लिए, दूसरोंको धोखा देनेके लिए अपने दर्शनकी रचना नहीं की। भले ही स्याद्वादका आश्रय न करनेसे उनसे चूक हो गयी। तो यह एक पर्याय दृष्टिकी मुख्यता करके जो बात समझी गई उसे एकान्तसे मान लिया गया, तब इस सिद्धान्तकी प्रसिद्धि हुई कि आत्मा प्रतिक्षण नवीन-नवीन उत्पन्न होता रहता है। ऐसे क्षणिकवादमें व्यवहार नहीं बन सकता। आपसे कोई रुपया उधार ले गया और बादमें आप उसके पास जाकर कहें कि दीजिए साहब हमारे रुपये तो वह यही कह देगा कि साहब हम क्या जानें तुम्हारे रुपये ? अरे तुमसे जो आत्मा रुपये उधार ले गया था वह तो कोई दूसरा था। वह तो नष्ट हो चुका है। अब तो मैं दूसरा आत्मा हूं। तो उनकी इस मान्यतासे व्यवहारमें भी बड़ी विडम्बना बन जायगी। जब एक एक क्षण बादमें दूसरे-दूसरे आत्मा बनेंगे तो फिर मैं क्यों तपश्चरण करूं ? क्यों कि मुक्त तो कोई दूसरा ही आत्मा होगा। इस तरहसे उनकी इस मान्यतासे व्यवहारधर्म भी नहीं चल सकता है। यह उनके एक इस सिद्धान्तकी बात कही गई कि आत्मा है और वह प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्यायोंरूप परिणत होता रहता है।

पूजा, यज्ञ आदिसे मुक्तिका लाभ माननेकी संभावित आधारभूत दृष्टिकी जिज्ञासा— अब यहाँ चर्चा आ रही है कि प्रायः आजके धर्मात्मा जनोंके समूहमें यह बात प्रसिद्ध है कि पूजा यज्ञ आदिक करने से मोक्ष होता है। भगवानके नाम पर पूजा करें अथवा कोई क्रिया अनुष्ठान करें तो उससे मुक्ति प्राप्त होती है। यह जो अभिप्राय प्रसिद्ध हो रहा है यह किस दृष्टिका परिणाम है ? इसका स्पष्ट समाधान यह है कि यह क्रिया दृष्टिका परिणाम है। यह क्रियादृष्टि जो इस परिणामको सिद्ध करे वह किस प्रकार बनी ? कोई जैसे ब्रह्म-ज्ञानी जीव जिसको आत्मतत्त्वका बोध है वह चाहता तो यह है कि मैं इस ज्ञानस्वरूप आत्मामें ही रमता रहूं और शुद्ध हृदयसे भी चाह रहा है, पर हृदयसे चाहकर भी कैसा पूर्वजनित कर्मका संस्कार है और कैसा कोई विलक्षण कर्मविपाक है कि जिसके कारण

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यह प्राय: ज्ञानी पुरुष भी अपने उस आत्मतत्त्वमें स्थिर नहीं हो पाता। ऐसी स्थितिमें वह क्या करता है ? चूंकि वह ज्ञानी पुरुष है और ब्रह्मस्वरूपमें उपयुक्त नहीं हो पा रहा है तब उसकी जो क्रिया बनेगी वह ब्रह्मस्वरूपसे एकदम प्रतिकूल न बनेगी, किन्तु उसकी सिद्धि का भाव रखते हुए उससे सम्बधित क्रिया बनेगी। तो ज्ञानी पुरुषकी यह क्रिया बनी इस विधिसे। उन्होंने भी देवयज्ञ अथवा परमात्मभक्ति, पूजन, अर्चन, वंदन आदिक सब कार्य, किया, पर इसके अन्त: रहस्यको साधारण लोग क्या जानें ? यह ज्ञानी पुरुष इन क्रियावों को कर रहा है इस ज्ञानस्वरूपकी यादमें। ज्ञानस्वरूपसे सम्बन्ध बनाते हुए ही अपना उपयोग इन पूजा आदिक क्रियाकाण्डोंमें कर रहा है, इसको सर्व साधारण समझ तो नहीं सकते, लेकिन सर्वसाधारणके चित्तमें यह भी बात तो बनी है कि यह बड़ा पुरुष है, यह ज्ञानी है, साधु है, उत्तम है, ऐसी बात बनी है और उनकी देखी जा रही है क्रिया, उनकी उत्तमताका कारण क्या है ? इस बातकी परख तो नहीं की जा सकी, किन्तु देखी जा रही है बाह्यमें क्रिया तो उनको यह ही ध्यान बन गया है कि ऐसी क्रिया करने से ही कल्याण प्राप्त होता है। यह बड़ा पुरुष है और यह भी पूजा आदिक कर रहा है तो यही क्रिया सब दु:खोंको मिटानेमें समर्थ है, ऐसी क्रियादृष्टि हो जाना साधारणजनोंको प्राकृतिक है। उन्हें यह समझ तो न आयी कि हम क्रियादृष्टिका एकान्त कर रहे हैं, यहाँ तो यह ज्ञानी पुरुष है, बड़ा है और इसको उस शुद्ध आत्मतत्त्वका परिचय है, पर उस शुद्ध आत्मामें उपयुक्त नहीं हो पा रहा है ज्ञानी, ऐसी शुद्ध पर्याय परिणति जिसे कि यह ज्ञानी चाह रहा है, उस पर्यायरूप परिणत जो ब्रह्म है, भगवान है, उस भगवानके शुद्धस्वरूपकी यह इस कारण भक्ति कर रहा है, स्तुति कर रहा है, पूजामें लग रहा है, यह तो मर्म जान न पाया, पर देखा वह बाह्य आचरण ही, तो उसको देखकर अभिप्राय बन गया है कि यज्ञ पूजा आदिकसे मोक्ष होता है।

क्रियादृष्टिके एकान्त आग्रह व स्वच्छन्द प्रवृत्तिमें विडम्बनाओंकी उत्पत्ति—उक्त प्रकारसे लौकिक जनोंकी ज्ञानियोंके पूजादि प्रसङ्गमें दृष्टि बाह्य क्रियाकी रही और इस क्रिया की बात यों निरखी कि ज्ञानी पुरुषके यह क्रिया अन्तर्भावसे हुआ करती है। उसका यह अभिप्राय बना कि पूजादि क्रियासे मुक्ति होती है—इतने तक ही भाव रहता वह भी कुछ ठीक था, लेकिन क्रियादृष्टिके एकान्तमें इस क्रियासे मुक्ति होती है—इतना परखनेके आगे भी कुछ अति लौकिक जनोंने पापभावमें कदम बढ़ाया। सम्बन्ध तो रखा पूजाका, यज्ञका लेकिन उन्हीं साधारणजनोंमें कुछ और भी विकार आये और यहाँ तक भाव बना कि मैं धर्मात्मा रहूं और विषयोंकी पूर्ति भी रहा करे और विषयपूर्तिकी इतनी जघन्य अवस्था तक वे अहंमन्य जन इस प्रवृत्तिमें आ गए कि मांसादिक भक्षणका काम भी चलता रहे,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

और साथ ही धर्मात्मापन भी बना रहे और यह विषयसेवन भी चलता रहे तब उन्होंने यज्ञोंका और विरूप उत्पन्न कर दिया। वहाँ बलि आदिक भी की जाने लगी। अब देखिये तो वस्तुतः पूजा तो यही है कि भगवानके गुणका, उस शुद्ध स्वरूपका स्मरण हो। यही भगवंतकी पूजा है। इतना कोई न कर सके तो मन लगानेके लिए कोई प्रासुक द्रव्यकी व्यवस्था हुई, कुछ स्तवन करके द्रव्य चढ़ायें, इस तरहसे उस साधन द्वारा चित्त लगायें, यह उससे दूसरे नम्बरकी बात है। लेकिन परमार्थतः जो भक्तियाँ हैं—सिद्धभक्ति, योगिभक्ति आचार्यभक्ति, शान्तिभक्ति आदिक, इनमें उपयोग रहे, उसके अनुसार चित्त चले वह तो है प्रथम पूजाका यथार्थपन, यथार्थ पूजा और फिर उन श्रावक जनोंका जैसे चित्त रमे उस तरह कुछ प्रासुक द्रव्य साधनसे पूजा हो वह है द्वितीय क्रमकी पूजा, लेकिन जब लोकरूढ़ धर्मात्मापनका नाम जाहिर करनेवाले जनोंने पूजाओंका रूप बिगाड़ लिया तो वहाँ हुआ क्या कि पशुबध आदिक जैसे रूप भी करके ये अपनेको धर्मात्मा प्रसिद्ध करने लगे। वे विषयोंके लोलुपी हुए तो उस समय इस तरहकी बात चली। वहाँ अग्नि जलाना, होम करना, पशुओंका होमना आदि ये सब कुप्रथायें चलीं और कुछ समय बाद कुछ विवेकी जन हुए तो उन्होंने उन प्रथावोंको मेटनेके लिए उनका एक नया रूपक बना दिया—क्या कि ईंधन जलाओ, पुराने धान उसमे डालो, आदिकरूपसे उसका संशोधन किया, लेकिन वस्तुतः क्या तत्त्व था मूलमें उसको वे न परख सके, इस कारण यह एक एकान्त कर बैठे कि ऐसी क्रिया करनेसे मुक्ति होती है।

क्रियादृष्टिका एकान्ताग्रह न करके अशुभवञ्चनार्थ क्रियावृत्ति करके भी शुद्ध ज्ञप्तिक्रियाके लक्ष्यसे च्युत न होनेका सदेन्श—यहाँ हमको क्या शिक्षा लेना है? यह शिक्षा लेना है कि हम क्रियादृष्टिके एकान्तका आग्रह न करें। वस्तुतः बात तो यह है कि मुक्त करना है अपने आत्माको और यह आत्मा किसी दंदफंदसे या कुछ हाथ पैर पसारे या अधीरताका काम करे या अनेक प्रकारसे विह्वलताओंको प्राप्त हो, इससे कहीं आत्मकल्याण की बात नहीं बननेकी। वह बात तो बनेगी धीरेसे, समतासे, स्वयंको स्वयंमें संयत करनेसे। यह ज्ञानद्वारा साध्य है। विवेकसे यह चीज बन सकती है, इसके लिए अन्तः संतुलन चाहिए। यह ज्ञानभाव इस ज्ञानमय निज स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाय, इसके लिए बाह्यका उपयोग तो सारा देखना होगा और अपने आपके सहज स्वरूपको उपयोगमें ऐसा दृढ़ लेना होगा कि यह उपयोग बाहर न जाय और यहाँ ही अपने आपके स्वरूपमें ठहर सके, स्वयं शान्त हो, गुप्त हो और ग्राह्यग्राहकके विकल्पसे भी रहित हो। वहाँ इतना तक भी महसूस न हो कि ओह कैसा यह शुद्ध ब्रह्म है, लो मैं इसको अनुभवमें ले रहा हूं, यह आनन्दकी बात है, इतना सूक्ष्म अन्तर्जल्प भी जहाँ समाप्त हो जाय, ऐसे अपने आपमें अपना प्रवेश होना, यह

Version 1

कहीं इन बाहरी क्रियावों द्वारा साध्य है। जो एक अन्त: उपयोग साधन द्वारा साध्य बात है वह क्रिया द्वारा साध्य होने लगे इसमें तो बड़ा ही अन्तर है। कितना बड़ा अन्तर होता है, लेकिन जो इस ब्रह्मस्वरूपमें उपयुक्त नहीं हो पाते उनके लिए चारा क्या है ? अन्य और बात क्या है ? अज्ञजनोंकी भाँति इन इन्द्रियविषयोंमें प्रवृत्ति करने लगें, यह न हो सकेगा। तो इस तरह एक परम्परासाधन जैसी पद्धतिमें ये पूजन, दर्शन, बन्दन क्रिया आदिक हों, लेकिन कोई उन्हींका आग्रह करे तो वह क्रियादृष्टिका एकान्त है।

सर्वविश्वको विज्ञानमात्र तत्त्व माननेके मन्तव्यकी आधारभूत दृष्टिकी जिज्ञासा— अब एक नवीन चर्चा यह आ रही है कि कोई दार्शनिक कहता है कि यह सारा विश्व मात्र ज्ञानरूप है। ज्ञानको छोड़कर अन्य कोई भी सत् नहीं है। सब ज्ञानमात्र है, ऐसा दर्शन सुन करके अचानक लोग ऐसा सोचेंगे कि यह तो अत्यन्त अनहोनी बात कही जा रही है, किन्तु इसको वे किस अभिप्रायसे साबित कर रहे हैं ? सो उनका अभिप्राय देखिये — विज्ञानवादियों का यह कथन है कि सारा विश्व एक विज्ञानमात्र है, क्योंकि इन समस्त पदार्थोंका और इस ज्ञानका एक साथ उपलम्भ हो रहा है। चूँकि ज्ञान और पदार्थ ये एक साथ ही उपलब्धिमें आ रहे हैं, इस कारणसे ये सब एक हैं और वे हैं ज्ञानमात्र। विज्ञानाद्वैतवादियोंकी विज्ञान-मात्र तत्त्वके साधनकी यह युक्ति देखिये—उनका कहना है कि ये सारे पदार्थ और यह विज्ञान ये दोनों एक साथ उपलब्धिमें आ रहे हैं, इस कारण ये भिन्न-भिन्न चीजें नहीं हैं किन्तु ये विज्ञानमात्र हैं, और दृष्टान्त भी वे देते हैं कि कभी दो चन्द्रमा दिखते हैं लोगोंको तो क्या वे दो चन्द्रमा हैं ? अरे वह तो एक है, क्यों एक है कि वे दो चन्द्रमा एक साथ दिखे। एक साथ दो चन्द्रमा दिखे हैं इस कारण वह चन्द्र एक है, इसी तरह यह सारा विश्व, ये भींत मकान, चौकी, काठ आदिक पदार्थ व यह ये दोनों एक साथ पाये जा रहे इस कारण ये दोनों एक हैं। (विज्ञानाद्वैतवादकी बात कह रहे हैं।) क्या किसीने उपलब्धि की कि ज्ञानकी तो उपलब्धि न हो और इन पदार्थोंकी उपलब्धि हो जाय ? ऐसा तो किसी के नहीं होता। जब ये बाहरी चीजें समझमें आयीं तब ज्ञान भी साथ-साथ जुटा हुआ है। तो ज्ञान और बाहरी पदार्थ ये दोनों एक साथ पाये जा रहे हैं, इस कारणसे एक ज्ञान मात्र ही हैं दूसरा कुछ नहीं। यह उनका सिद्धान्त है। इस विषयमें यह जिज्ञासा हो रही है। इस तरहका आशय किस दृष्टिका परिणाम था ? उन्होंने कौनसी दृष्टि की, अथवा किस दृष्टि का आग्रह किया, तब यह समझमें आया कि यह सारा विश्व एक ज्ञानमात्र है, यह दूसरा कुछ भी पदार्थ नहीं है ? उक्त जिज्ञासाका समाधान यह है कि ज्ञानमात्र ही सारा विश्व है, इस अभिप्रायका कारण है विज्ञानदृष्टि।

विज्ञानदृष्टिके एकान्तका मन्तव्य— अब विज्ञानदृष्टिका एकान्त देखिये— जीव

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वास्तवमें अपने ज्ञानके परिणमनको ही जानता है। बाहरमें कुछ नहीं जानता। लो चलो–ज्ञानमें आयी भींत, यह बाहरी पदार्थ, तब हम जान सके कि यह भींत है, यह अमुक पदार्थ है। तो ज्ञानकी पर्यायमें जो ग्रहण हुआ, जो ज्ञान हुआ, तत्त्व तो यही मात्र है, उससे भिन्न नहीं है बाहरी कुछ चीज। लेकिन जो ज्ञानमें आया उसके कारण बाह्य पदार्थोंके नाम लिए जाते हैं कि यह भींत है, यह चौकी है, यह अमुक है। यों विज्ञानदृष्टि का एकान्त बना। जैसे कि कोई पुरुष दर्पण लिए हो तो दर्पणको देखकर ही वह यह बतला पाता है कि देखो पीछे ये वृक्ष खड़े हैं, ये लड़के खेल रहे हैं आदि तो यह बात उसने कब समझा ? जब उसने दर्पणमें पड़नेवाले प्रतिबिम्बको देखा। तो तत्त्व तो उसके लिए यही दर्पण ही है। दर्पण प्रतिबिम्बित है। वह एक उसकी दृष्टिमें है, पर उसे निरखकर जैसे वृक्षोंकी बच्चोंकी अन्य अन्य भी बाहरी चीजोंकी सत्ता बताता है ऐसे ही यहाँ ज्ञानमें आये हुए आकारोंको समझकर बाहरी पदार्थोंकी सत्ता बताया करते हैं। यह विज्ञानमात्र तत्त्व माननेवालेकी चर्चाको बतला रहे हैं। यद्यपि ये समस्त आकार जो ज्ञानमें आये हैं, जो अर्थ विकल्प हुए हैं वे उस प्रकार हुए हैं कि जैसे बाहरमें पदार्थ मौजूद है, लेकिन जो मात्र विज्ञानदृष्टि करके विज्ञानको ही देख रहा है तो उसे बाह्य जगतका सत्त्व प्रतीत नहीं होता है। विज्ञानाद्वैतवादी चर्चा कर रहे हैं–जैसे कोई स्वप्नमें निरखते हैं कि पहाड़ है, जंगल है, लोग हैं, नदी है आदि, लेकिन वहाँ कुछ है क्या ? हाँ उसके ज्ञानमें यह सब कुछ है। तो भीतरसे इस चर्चाकारका (विज्ञानाद्वैतवादीका) यह आशय है कि इसके ज्ञानमें ही सब कुछ हैं ये पेड़ खम्भा आदिक बाहरी पदार्थ, लेकिन ये वस्तुतः कुछ भी चीज नहीं हैं।

सहोपलम्भसे अनेककी सिद्धि—उक्त आशय बना केवल विज्ञानदृष्टिका आग्रह करने से, किन्तु इसपर कुछ विचार किया जाय तो यह बात यथार्थ सिद्ध नहीं होती। वस्तुतः सभी पदार्थ हैं, अनन्त पदार्थ हैं, एक ज्ञानमय भी पदार्थ है, किस तरह, सो देख लीजिए—चर्चाकारका यह कहना था कि जैसे दो चन्द्रमा दिख गए, कभी-कभी किसी मनुष्यको दो चन्द्रमा एक साथ दिख जाते हैं तो वे क्यों दिखे ? क्योंकि वह चन्द्र एक है। इस दृष्टान्तको कहनेवाले चर्चाकारने स्वयं अपनी चर्चाका खण्डन कर दिया। दो चन्द्र दृष्टिमें आ गए ठीक है, किन्तु देखिये चन्द्र एक हो चाहे दो हों, उससे यह बात तो सिद्ध न हो सकी कि तत्त्व ज्ञानमात्र है। अरे चन्द्र भी है और ज्ञान भी है, उसीके कहनेसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि चन्द्र भी एक पदार्थ है और ज्ञान भी एक पदार्थ है और ज्ञानसे देखा तो उस एक चन्द्रको देख लिया। अब अन्तर इतना ही तो रहा कि जो दो चन्द्र दिखे वह भ्रान्त ज्ञान है और एक चन्द्र दिखे वह अभ्रान्त ज्ञान है। तो यहाँ जो कुछ जाना जा रहा है भींत चौकी, पुरुष, पशु पक्षी आदिक यह भ्रान्त नहीं है, अभ्रान्त है। भला बतलाओ एक खम्भा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

१०–२० टनका बोझ लादे हुए है, इतना तो वह कायमें आ रहा है, वह न हो तो सारी बिल्डिग टूटकर गिर जाय। तो इतना बड़ा काम खम्भा कर रहा है, फिर भी ये विज्ञानवादी ऐसा कह रहे हैं कि यह सब भ्रम है। अरे भ्रम है तो फिर इतने बड़े बोझवाली छतके नीचे बैठ कर रक्षित कैसे रह सके? जब खम्भा कुछ भी नहीं है तब तो फिर यह छत टूटकर गिर जाना चाहिए था और हम आपको उसके अन्दर दबकर प्राणवियुक्त हो जाना चाहिए, था पर ऐसा कहाँ देखा जाता? तो ये सब अर्थक्रियाकारी पदार्थ बराबर नजर आ रहे हैं। अभी देखिये हम आप रेलगाड़ीमें बैठकर एक ही घंटेमें पचासों मील की दूरी तय कर लेते हैं तो क्या रेलगाड़ी कुछ भी नहीं है? केवल भ्रम मात्र है क्या?

शुद्ध सुखसंवेदनमें बाह्य पदार्थकी उपलब्धि न होनेसे विज्ञानमात्रतासाधक सहोपलम्भ साधनकी असिद्धि—चर्चाकारने यह बताया था कि ज्ञान और ये दिखनेवाले पदार्थ एक चीज क्यों हैं कि इनकी एक साथ उपलब्धि होती है। तो उसकी यह बात भी असिद्ध है, क्योंकि क्या यह नियम है कि जो एक हों उन्हें एक साथ उपलब्ध होना ही चाहिए याने पदार्थ और यह ज्ञान एक है, क्योंकि इनकी एक साथ उपलब्धि है। यह नियम देखो सुखसंवेदनमें घटित नहीं हो रहा है। जब ज्ञान सुखका सचेतन कर रहा है, बाह्य पदार्थोंपर दृष्टि भी नहीं गई है, केवल एक ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका वेदन करनेसे उत्पन्न हुआ जो अलौकिक आल्हाद है उस सुखका अनुभव कर रहा है, बताओ वहाँ पदार्थ और ज्ञान भी एक साथ उपलब्ध कहां रहा? लेकिन पदार्थके बिना भी यहाँ ज्ञानकी उपलब्धि हो गयी। तो सहोपलम्भकी बात कहना यों भी युक्ति संगत नहीं होती, केवलज्ञान ही तत्त्व है ऐसा सिद्ध करने वाले की। विज्ञानाद्वैतवादी यह युक्ति बतला रहे हैं कि पदार्थ और ज्ञान चूंकि ये एक साथ बोधमें आते हैं अतएव एक हैं। अब सुनो एक साथ ये दोनों पाये जा रहे हैं, ऐसा कहकर वे चाहते हैं हम एकको सिद्धि कर लें, मगर इस ही से अनेककी सिद्धियाँ होती हैं, एक साथ पाये जा रहे हैं ये दो, सो पाये जायें, मगर हैं वे दो ही, क्योंकि एक साथ पाये जा रहे हैं। एक साथ दो के पाये जानेसे कहीं एक सिद्ध न हो जायगा। देखो—यहीं एक यह काली फर्श बिछी हुई है, इसमें काला रूप है ना? अवश्य है, दिख ही रहा है हम आपको और देखो यह सूर्यका प्रकाश भी है ना? अरे प्रकाश न होता तो यह कालारूप दिख कैसे जाता? लो यहाँ रूप और आलोक ये दोनों एक साथ हो गए, मगर क्या ये एक हो गए? रूप रूप है, प्रकाश प्रकाश है, तो एक साथ पाये जानेसे एक हो जाय यह बात अयुक्त है। और फिर उन्हींके शब्दोंमें सोचिये—इनका कहना है कि ये सारे पदार्थ और ये ज्ञान, ये एक साथ पाये जा रहे हैं इसलिए एक हैं, तो वह एक क्या रहा? पदार्थ रहा या ज्ञान? जब दो को एक साथ पाये जानेसे तुम एकको ही मानते हो तो वह एक तुम कह रहे कि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ज्ञान रहा, अन्य कोई कह दे कि पदार्थ रहा, और पदार्थ ही ज्ञान है, कोई यों बोलेंगे, तुम बोल रहे हो कि ज्ञान ही पदार्थ है तो वह एक क्या रहा ? पदार्थ रहा कि ज्ञान रहा ? लो पदार्थ रहा। इसकी वोट ले लीजिए—जितने भी मनुष्योंसे पूछो—वे पदार्थको तो जरूर बतावेंगे, ज्ञानको बता सकें चाहे नहीं, मगर इन बाह्यपदार्थोंको मना कोई न करेगा। और कोई ज्ञानको भी बतानेवाला होगा तो ज्ञानमात्र ही तत्त्व है, अन्य कुछ नहीं है ऐसी मात्रपनेकी बात तब ही कही जा सकती कि जब कोई अन्य भी हो। मात्र कहाँ लगाया जाय ? जहाँ उसके अतिरिक्त अन्य भी कुछ हो, मात्र शब्दका प्रयोग वहाँ है।

ज्ञानमय पदार्थ व सकल ज्ञेय पदार्थ सभीके अस्तित्वका निर्णय—विज्ञानवादीकी एक-एक बात, एक एक शब्द यह ध्वनित कर रहा है कि जगतमें बाह्यपदार्थ भी हैं और ज्ञानभाव भी है। कैसे उसे एक कहा जा सकता है ? यों तो इस तरहकी बात हो गयी कि जैसे किसी पुरुषका कोई इष्ट गुजर गया, जिससे बड़ा प्यार था तो उस पुरुषको सब जगह सूना-सूना नजर आता है, दुःख ही दुःख नजर आता है तो क्या उसके ऐसा नजर आनेके कारण यह सब जगत सुना हो गया ?···नहीं सूना हो गया। तो यही बात यहाँ देखिये कि कोई भी विज्ञानको दृष्टिमें लिए हुए हो और उसका एकान्त करके केवल उस ज्ञानमात्रको ही बताना हो तो यह बात असिद्ध है। जो ज्ञानमात्रको दृष्टिमें लिए हो वह बाह्य पदार्थों का सद्भाव न बता सकेगा तो फिर उनके अभावको भी न बता सकेगा ? वह तो ज्ञानमें मग्न है, लोग बात तो लेंगे केवल एक ज्ञानमात्रकी दृष्टि की और व्यवहार करेंगे इन बाहरी पदार्थोंका। तो इस तरह बाह्यपदार्थोंका निषेध करनेकी बात युक्तिसंगत नहीं होती। फिर भी परख यह करना है कि जो ऐसा निरख रहा है कि सारा विश्व ज्ञानमात्र है, अन्य कुछ नहीं है तो उसका यह अभिप्राय एक विज्ञानदृष्टिके आग्रहपर बना है। पर वस्तुतः बाह्य पदार्थ भी हैं और यह ज्ञानमात्र पदार्थ भी है।

शरीर ही आत्मा है इस मन्तव्यकी संभावित दृष्टिकी जिज्ञासा—कल यह वर्णन था कि यह सारा विश्व ज्ञानमात्र है, ऐसा अभिप्राय किस दृष्टिका परिणाम है, उसकी मीमांसा करते हुए चर्चाकार और समाधानकार दोनोंकी यहाँ इतनी बात तो सम्मत हो ही गयी थी कि वह ज्ञान अमूर्त है, निराकार है, अर्थात् यहाँके दिखनेवाले पिण्डोंकी तरह उसका आकार नहीं है, यह बात सुनकर अब कोई लौकिक पुरुष लौकायतिक अर्थात् लोककी तरह जिनका आचरण बना हुआ है, कहने मात्रको दार्शनिक हैं, किन्तु उनका दर्शन यह है कि जो कुछ दिख रहा है वह तो तत्त्व है और उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, इस तरहके अभिप्राय वाले यहाँ यह चर्चा रख रहे हैं कि हम तो यह समझते हैं कि जो शरीर है सो ही आत्मा है, शरीरसे अतिरिक्त आत्मा अन्य कुछ नहीं है। और हम ही क्या, जिससे पूछोगे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वे ही लोग यह बतावेंगे कि यह ही तो आत्मा है। पशुओंको देखकर कहते हैं कि यह गाय है, यह बैल है, अमुक है, तो इस तरह शरीरको निरखकर ही तो कहा करते हैं। तो शरीर ही आत्मा है, यह भी तो लोगोंका ख्याल बना हुआ है। यह अभिप्राय किस दृष्टिका परिणाम है ? ऐसे ही यहाँ एक लौकिक साधारणजनोंकी चर्चा उपस्थित हुई है। उसमें भी अब अभिप्राय बताया जा रहा है, उनका यह अभिप्राय सांव्यवहारिक दृष्टिका परिणाम है।

सांव्यवहारिक दृष्टिके एकान्तमें ज्ञानकी भूतपरिणामताका मन्तव्य—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष प्रमाण कहते उसे हैं जो इन्द्रियके द्वारा समझा जाय। तो जो इन्द्रियके द्वारा जाना गया वह ही मात्र पदार्थ है बाकी और कुछ नहीं है, ऐसा अभिप्राय इस दृष्टिके एकान्तमें बन जाता है। इस सिद्धान्त वालोंने यही तो कहा है कि ज्ञान पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनका परिणाम है अथवा ५ भूत लगा लीजिए—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इनका परिणाम है ५ भूतोंकी दृष्टि यों बन गई कि इन्द्रियाँ शरीरमें ५ मिल रही हैं। तो आकाश से तो बना कर्णइन्द्रिय जो शब्दको ग्रहण करे और कान लगते भी ऐसे हैं कि मानो पोल घुस गया। आकाश भी उसमें भरा सा है और आँख हो गया अग्निका तत्त्व। देखो--रात्रि के समयमें बिल्ली आदिककी आखें देखी जायें तो चमकदार लगती हैं, आग भी चमकदार होती है। कुछ चमकीला दीखा तो ध्यान आ गया कि यह अग्निका तत्त्व है, और नाक यह इन्द्रिय पृथ्वीका तत्त्व है। पृथ्वीमें भी गंध आती है, नाकका भी काम गंध लेना है। तो सदृशता बन गई। तो नाकइन्द्रिय पृथ्वीसे उत्पन्न हुई है और रसना यह जलतत्त्व है, क्योंकि देखो ना जीभसे जब चाहे पानी टपक पड़ता है। तो यह जो जीभ है वह जलतत्त्वसे निकली है और फिर शरीर स्पर्श यह सब हवाका तत्त्व है। इस तरह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुका परिणाम है सब इन्द्रिय और ज्ञान। यहाँ स्पर्शनको पृथ्वीज मान लिया जाय तो नासिका को वायुज मान लीजिये, इस तरह ५ भूतोंसे उत्पन्न हुआ यह चैतन्य है। शरीरसे अतिरिक्त कुछ चेतन नजर आया नहीं, तो बस यह ही जीव है। इस शरीरसे अतिरिक्त अन्य कोई जीव नहीं है, यह उनकी दृष्टि बनी। लेकिन इस बातपर विचार करें तो कुछ गम्भीरतासे सोचा जायगा तो समाधान मिलेगा। पहिली बात तो यह है कि यदि यह चेतन, यह ज्ञान जिस ज्ञानके लिए भूत परिणाम बताया जा रहा है, वह ज्ञान यदि भूत परिणाम होता तो इन्द्रियसे दिख जाना चाहिए था। नाक, आँख, कान, शरीर ये सब इन्द्रियसे दिख जाते हैं, तो ऐसे ही यदि चेतन भी भूत परिणाम हो, पृथ्वी आदिकका परिणमन हो तो वह भी आँखोंसे दिखना चाहिए था, लेकिन कहाँ दिखता ? तो मालूम होता है कि आत्मा भूत परिणमनसे अतिरिक्त कोई चीज है।

ज्ञानके सूक्ष्मभूतपरिणामत्वकी भी असंभवता—अब यदि शंकाकार यह कहे कि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

चैतन्य तो है भूतपरिणाम, मगर वह सूक्ष्म भूतपरिणमन है, तो चलो सूक्ष्मभूत परिणमन पर ही विचार कर लें। अच्छा बताये कोई कि सूक्ष्मभूत परिणमन रूप वह चेतन अथवा ज्ञान क्या चेतनकी जातिका है या विजातीय है? अगर चेतनकी जातिका है वह भूतपरिणाम जिसे सूक्ष्म कहकर बोल रहे हो तो चेतन ही कहलाया, फिर विवाद ही क्या रहा? यदि कहो कि वह ज्ञानसे विजातीय है तो विजातीयका विजातीय उपादान नहीं बन सकता, तब वह सूक्ष्मभूत परिणमन जिसे ज्ञान कह रहे हो वह तो ज्ञानसे विजातीय है। तो विजातीय हो गया वह भूतपरिणाम, सो अब चैतन्यकी उत्पत्ति भूत उपादानसे नहीं हो सकती। देखो— यहाँ भी ये ही लोग ऐसा कहते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चारों अलग-अलग चीजें हैं, तो ऐसे अलग-अलग पदार्थ समझानेके लिए वे क्या उपाय रचते हैं? असाधारण लक्षण देखे जा रहे हैं यों कहते हैं। पृथ्वीमें जो धारणरूप असाधारण लक्षण देखा जा रहा है वह पृथ्वीमें है, अन्यमें नहीं। जलमें जो असाधारण लक्षण है द्रवत्व वह जलमें ही है अन्यमें नहीं। अग्निमें असाधारण लक्षण है उष्णता वह अन्यमें नहीं। वायुमें असाधारण लक्षण ईरण, बहना, वह अन्यमें नहीं। सो असाधारण लक्षण द्वारा पदार्थ पृथक् पृथक् हैं, यह व्यवस्था की जाती है। असाधारण लक्षण देख करके तो यहाँ भी देखो ना—ज्ञान अथवा चेतनमें है असाधारण लक्षण इस शरीरसे विलक्षण। चेतन है ज्ञानस्वरूप, प्रतिभासस्वरूप। जाननहार जो यह शरीर है यह रूप, रस, गंध, स्पर्शका पिण्ड है।

सांव्यवहारिक दृष्टिके एकान्तकी विडम्बना— देखिये सांव्यवहारिक दृष्टिके एकान्तकी बलिहारी, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चारों जहाँ अलग-अलग पदार्थ नहीं हैं, ये पुद्गल हैं, उनको तो अलग-अलग मान डाला और जो चेतन हैं, बिल्कुल विजातीय अलग पदार्थ है उसको माना नहीं है। तो यह सांव्यवहारसे जो कुछ देखनेमें आ रहा है, उस ही का परिणाम है और इस एकान्तमें कितने अनर्थ हो रहे हैं? अरे शान्ति, आनन्दका धाम यह आत्मा स्वयं है। जब आत्माकी जाति अरहंत और सिद्ध भगवानकी तरह है, यही तो सिद्ध होता है, यही तो अरहंत भगवान होता है। तो अरहंत सिद्धकी तरह चैतन्य जातिवाला यह मैं आत्मा और अपने आपकी दृष्टिमें न आये तो वहाँ अनर्थ होता ही है। यह संसारका जन्म मरण चल रहा है, अनेक संकट पाये जा रहे हैं, उनसे छुटकारा प्राप्त हो जाय, इससे बढ़कर जगतमें कोई वैभव नहीं है। तो इस आत्मतत्त्वकी अपनेको दृष्टि रहे, इसके लिए क्या उपाय रचना है? भेदविज्ञान करके चेतनको शरीरसे पृथक्-पृथक् जानना है। और मंद कषाय रख करके गुणविकासकी ओर बढ़ना है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायें मंद रहें तो उस स्थितिमें इसके धीरता, गम्भीरता, परखके अभिमुख ही बुद्धिको बनाना ये सब बातें सम्भव हो जाती हैं। तब करना यही तो है—आत्मतत्त्वकी दृष्टि बन जाय, इस

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

परमार्थस्वरूपका दर्शन हो जाय तो इस जीवका कल्याण है और यही मात्र न कर पाया, जगतमें कुछ भी बन गए तो उससे इस जीवको लाभ क्या मिला ? चार्वाक जो कुछ देख रहे हैं उसको ही सत्य समझ रहे हैं कि यही सर्वस्व है। और वे आत्माकी तो सुध ही नहीं लेते हैं। आत्माकी बातको कोई हर प्रकारसे ओझल करे तो अशक्य है, क्योंकि सबमें जानकारी हो रही है। उनसे जब पूछा जाय कि यह जो जानकारी बन रही है यह क्या चीज है ? तो उनका कुछ न कुछ उत्तर तो होना ही चाहिये। यहाँ लौकायतिकोंका उत्तर है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुका संयोग होनेसे शरीर, इन्द्रिय आदिक संज्ञायें उत्पन्न होती हैं और उससे फिर इस चेतनकी उत्पत्ति होती है।

चैतन्यकी (आत्माकी) स्वसंवेदनप्रत्यक्षगम्यता—ज्ञानतत्त्वकी सिद्धिके प्रसंगमें लोगों की एक यह शिकायत है कि चैतन्य प्रत्यक्षसे तो नजर नहीं आता। कैसे मान लिया जाय ? जो हमें आंखों दिखे, प्रत्यक्ष दिखे, वस्तु तो वह मानने योग्य है। सो यहां भी विचार करें अन्तर्दृष्टि करके तो अपना आत्मा अपने ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष हो जाता है। अरे इतना तो सब कोई समझ रहा है कि मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूं, मैं उलझनमें हूं, मैं शान्त हूं आदि, तो जो अपने आपमें 'मैं' का शब्द जोड़ रहा है, 'मैं' दुःखी हूं तो यह प्रत्यक्ष कर रहा कि नहीं ? वह है ज्ञानसे प्रत्यक्ष और यहाँ लौकायतिक करना चाहता है आँखसे प्रत्यक्ष तब ऐसी यहाँ शंका आती है, पर ज्ञानद्वारा अपने आपके स्वरूपको प्रत्यक्ष करे कोई तो प्रत्यक्ष हो जाता है। मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं आदिक प्रतीति द्वारा यह आत्मतत्त्व प्रत्यक्ष रहता है, अपने आपकी समझमें रहता है।

शान्तिके यथार्थ उद्यमके प्रसङ्गमें आत्मयाथातथ्यका सुगमतया निर्णय—अच्छा जरा एक बात और भी देखिये—प्रसंगमें ख्याल आयी हुई, मान लो परलोक नहीं है, आत्मा आगे भी नहीं रहता, आत्मा पहिले भी नहीं था, जब तक यह शरीर है तब तक ही यह चेतन है। इन लौकिक जनोंकी भाँति थोड़ी देरको ऐसा मान लो, लेकिन ऐसा मानकर भी यह बतलाओ कि तुम सुख चाहते हो या दुःख, शान्ति चाहते हो या अशान्ति ? तो इस सम्बन्धमें एक ही उत्तर मिलेगा कि हम शान्ति चाहते हैं। जो आत्माको आगे पीछे न माने, जिसने वास्तविक सत्यको नहीं समझा वह भी यही चाहता है कि मेरेको शान्ति मिले। तो चलो, न सही परलोक, नहीं आये हम किसी परलोकसे। जितना हमारा जीवन है उतनी देरके लिए ही हम सही, लेकिन शान्तिका उपाय तो करना अभीष्ट है ना ? इसका निर्णय कर लो कि शान्ति किस दशामें प्राप्त हो सकती है ? जब जब यह उपयोगभूत परिणाम भी मान लो, कुछ भी सत् कह लो, आगे पीछे नहीं है, ऐसा भी कह लो, मगर है तो कुछ ज्ञान। तो यह ज्ञान जब बाह्यपदार्थोंकी ओर उपयुक्त होता है तो वहाँ वश तो नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है । बाह्य पदार्थ उस रूप ही परिणम जाय । सब पदार्थ है, अपना सत्त्व लिए हुए हैं तो इसकी जब इच्छा पूर्ण नहीं है तो यह आकुलित होता है । अब देख लो—बाह्य जगत में कहां-कहां दृष्टि लगाकर, उपयोग बसाकर हम शान्त हो सकते हैं ? उसका उपाय यह मिलेगा कि इस बाह्यदृष्टिको समाप्त करके अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानको उपयुक्त करें, जिस विधिसे बने वह शान्तिका उपाय सो कीजिये । तो जो लोग परलोक नहीं मानते हैं वे भी यदि गम्भीरतासे विचार करें तो इस निर्णयपर आयेंगे कि हम किन्हीं बाहरी पदार्थोंका ज्ञान न करें और यों ही शान्त रहें । बाहरमें जो हो सो हो, ऐसी स्थिति हो तब शान्ति प्राप्त होगी और ऐसी स्थिति कोई प्रयोग करके देखे तो उसको आत्माका विश्वास हो जायगा, अपने अन्तः स्वसम्वेदन प्रत्यक्षका उसे अनुभव बन जायगा ।

आत्मतत्त्वकी युक्त्यनुभूतिगम्यता—यह आत्मा प्रत्यक्षसे भी ज्ञात होता है, पर होता है अपने आपके स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे । और विदित होगा युक्तिसे भी और अपने आपमें किए गए अनुभवसे भी कि यह मैं चेतन इन अन्य सब पदार्थोंसे विलक्षण स्वरूप वाला हूं । ये बाहरी पदार्थ रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले हैं । और मैं यह चैतन्य स्वभावमात्र तत्त्व इन सबसे विलक्षण हूँ । विलक्षणताके आधारपर लौकिक जन भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदिक पृथक्-पृथक् तत्त्वोंकी व्यवस्था करते हैं । तब उनसे विलक्षण असाधारण स्वभावको निरखकर इस चैतन्यको भी स्वीकार कर लेना चाहिए । तो यह आत्मा जो लौकिक जनोंको प्रत्यक्ष नहीं है, स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष गम्य है, वह अनुमानसे भी तो सिद्ध हो जाता है । न किसीको स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष बन रहा हो ऐसा, सो नहीं है । बन तो रहा है, किसी भी रूपमें बने, सो प्रत्यक्षगम्य भी है यह चैतन्यतत्त्व ।

आत्मतत्त्वकी अनुमानगम्यता—यह आत्मतत्त्व अनुमानगम्य भी है । क्या अनुमान बनता ? ये इन्द्रियाँ, कान, आँख आदिक जो अपना काम करती हैं सो किसी न किसी कर्ता के प्रयोगसे करती हैं, क्योंकि ये सब करण (साधन) हैं, इतना तो सभी कोई जान रहे हैं कि इन्द्रियाँ ये खुद नहीं जानती हैं, क्योंकि जब मर गये यानें वह चेतन शान्त हो गया, लौकायतिक की दृष्टिमें चेतन आगे नहीं रहता । चेतन शान्त हो गया फिर भी ये इन्द्रियां बनी हुई हैं, पर ये कहां कुछ जानती हैं ? तो प्रमाणित होता है कि ये इन्द्रियां करण हैं, जानने वाली नहीं, इन्द्रियां साधन हैं । तो जो साधन होते है उन साधनोंके द्वारा कोई काम किया जाता है तो यह समझना चाहिए कि प्रयोग करनेवाला कोई पृथक् है । जैसे कोई लकड़हारा कुल्हाड़ीसे काठके खण्ड-खण्ड करता है तो कुल्हाड़ी साधन है, उसका प्रयोग करनेवाली स्वयं कुल्हाड़ी नहीं है, उसका प्रयोक्ता लकड़हारा है । इसी तरह जब इन्द्रियके द्वारा यह सब जाना जा रहा है तो कोई कर्ता इन इन्द्रियोंसे अलग है और वह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जो भी अलग है उसीका नाम चेतन है। तो लो अनुमानसे भी यह बात सिद्ध हो जाती है। यों यह मैं आत्मा इस शरीरसे पृथक् कोई पदार्थ हूं देखिये—यह प्रसंग बहुत महत्त्वपूर्ण है, भले ही चर्चा इसकी ज्यादह आती नहीं है क्योंकि जो यहां भाषाप्रज्ञ हैं उनके कुछ विद्याभ्याससे ऐसा ज्ञान बैठा हुआ है कि चेतन तो है ही, इसमें क्या दिमाग लगाना कि यह शरीरका परिणमन है, लेकिन भीतरी विश्वासको देखा जाय तो इतना सब कुछ ज्ञान करने वाले भी प्राय: अनेक पुरुष भीतरमें यह तत्त्व लिए बैठे हैं कि जो शरीर है सो मैं हूं। तो यहां जानना होगा कि यह मैं चेतन हूं, सत् हूँ, हूं ना, और परिणमन करता हूं तो जब मैं सत् हूं तो यह मैं सत् किसी कारणके उत्पन्न नहीं होता। मैं सत् अनादि सत् हूँ। तो इस चेतनको इन भूतोंने उत्पन्न नहीं किया।

भूतचतुष्टय द्वारा चैतन्यकी अभिव्यक्तिकी असिद्धता—अब कदाचित् शंकाकार यह कहे कि यों चेतनकी उत्पत्ति न सही, लेकिन चेतनकी अभिव्यक्ति तो हुई और यह दिखता भी है। लोग कहते हैं कि जीवने किया, मगर जीवने किया—यह बात हमें जाननेमें कब आयी ? जब कि शरीर हो, इन्द्रियाँ बनी हों ? तो उस जीवकी, चेतनकी, ज्ञानकी अभिव्यक्ति तो इन पृथ्वी आदिकसे होती है। तो अभिव्यक्तिकी बात देखो—अभिव्यक्ति चेतन की हुई, तो वे यह बतलायें कि सत्रूप चेतनकी अभिव्यक्ति हुई या असत्रूपकी याने जिस चेतनकी अभिव्यक्ति हुई वह पहिलेके सत् है या अत्यन्ताभाव है, असत् है ऐसे चेतन की अभिव्यक्ति हुई। यदि कहें कि सत्की अभिव्यक्ति हुई, तो चलो सब मामला निपट गया। हम भी मानते हैं कि तत्त्व है, अनादिसे है, सद्भूत है, सूक्ष्म है, अमूर्त है। यह जीव लौकिक लोगोंको तब मालूम पड़ता रहता है जब वे शरीरको ग्रहण किये होते हैं। शरीरधारियोंमें जीविका लोग अनुमान करते हैं, पर वह जीव शरीरसे निराला है, स्वयं सत् है। और यदि कहो कि असत्में चैतन्यकी अभिव्यक्ति हुई है तो यह बात नितान्त असम्भव है। फिर तो जो सर्वथा असत् ही उसकी अभिव्यक्ति होने लगेगी। गधेके सींग, खरगोशके सींग, आकाशके फूल आदिकी भी अभिव्यक्ति बनने लगेगी। असत् सर्वथा हो, उसकी अभिव्यक्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती। कदाचित् कहो कि वह न सर्वथा सत् है, न असत् है, किन्तु असत् सत्रूप है तो भला, बहुत अच्छा कहा। यह जीव चेतन सत् तो है मगर पर्याय रूपमें असत् है। तो जब जो पर्याय इसकी होती है वह पर्याय उस समय हुई, उस ढंगमें पहिले न थी तो पर्यायरूपसे असत् है और द्रव्यरूपसे सत् है, ऐसे जीवकी बात तुम कर रहे हो तो इसमें किसी भी प्रकारसे विवाद नहीं बनेगा।

स्वतन्त्र सद्भूत चेतन पदार्थका निर्णयन—यहां यह ज्ञातव्य है कि मैं जीव (आत्मा) इस शरीरसे निराला हूं और स्वयं सत् हूं। किसीने इसकी अभिव्यक्ति नहीं बनायी है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

और यह मैं अनादिसे हूं, अनन्तकाल तक रहूंगा, ऐसा मुझ आत्माको शान्तिका कोई सही उपाय खोज लेना चाहिए अन्यथा इस जगतमें जन्म मरण भोगनेका संकट लगा रहेगा। न इस भवमें ही शान्त सुखी हो सकेंगे, न आगे भी शान्त सुखी हो सकेंगे। अतः हमारा कर्तव्य है कि हम वह उपाय बनायें, जिससे कि हम अपने आपमें शान्तिलाभ लें। उसका प्रथम उपाय यह है कि यह श्रद्धा तो करें कि मैं आत्मा कोई सद्भूत पदार्थ हूं। अब इतना समझ लेना कुछ आसान है कि मैं हूं, सत्‌रूप हूं, अथवा मैं हूं, जाननहार हूं। अब इसके सम्बन्ध में यह जानना शेष रह गया कि यह मैं पहिले भी था और आगे भी रहूंगा। देखिये— उसकी सिद्धि अनुमानसे भी होगी। जैसे हम यहां देख रहे हैं कि इस क्षणका यह चैतन्य पूर्व चैतन्यके कारणसे हुआ और इस क्षणका यह चैतन्य अगले चैतन्यको करता है। अथवा जो प्रथम ज्ञान है यह ज्ञान पूर्वज्ञानके कारणसे हुआ है और उत्तर ज्ञानका कारण बनेगा। हमारे इस वर्तमान चैतन्यमें यह बात देखी जा रही है। चेतनके विवर्त है, पर्याय है, तो चेतनकी पर्याय होनेसे हमारी वर्तमान जानकारी ज्ञानपरिणमन पहिले ज्ञानपरिणमनसे हुई। और अगले ज्ञानपरिणमनको करेगा। तो अब चलते जाइये। आजके चेतनकी बात है तो कलके चेतनकी भी यह बात थी कि पहिले चेतनसे हो और अगले ज्ञानको करे। तो अब और चलते जाइये—इस जीवनका जो सर्वप्रथम चैतन्य हुआ वह भी पूर्व चैतन्यके कारणसे ही हुआ है। कारण कि हम यहां भी ऐसा कार्यकारणभाव समझ रहे हैं तो लो इससे सिद्ध हुआ कि इस जन्मके आत्मा चैतन्यसे भी पहिले चेतन था, जीव था, कहीं था, किसी रूपमें था। वह चेतन न हो तो यह जन्मसमयका पहिला चेतन भी न हो सकता था। और इसी तरह मरणके समयमें जो अन्तिम चेतन है वह भी चैतन्यकार्यवाला है, आगे वह चेतन चलेगा तब परिणमन आगे और रहेगा। यों पूर्वभव भी सिद्ध हो गया और अगिला भव भी सिद्ध हो गया। ऐसा अनादि अनन्त अपने ज्ञानस्वरूप मात्र यह मैं आत्मा इस शरीरसे निराला हूं।

कायमल मिट्टी वायु आदिके मेलकी कदाचित् देहरचनामें निमित्तता होनेपर भी चैतन्योत्पत्तिमें कारणताका अभाव—लौकिक जनोंको आत्मास्तित्वके सम्बन्धमें यह शंका इस कारण भी हो जाती है कि वे यह सब देख रहे हैं कि कुछ चीजोंको मिलाया तो वहाँ जीव उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे—गंदगी हो—लो मच्छर उत्पन्न हो जाते हैं। गोशालामें गो मलमूत्र व मिट्टी गधेका मलमूत्र आदिक कुछ चीजोंका सम्बन्ध हो जाय तो वहाँ बिच्छू उत्पन्न हो जाते हैं। तो कोई यों कह बैठे कि देखो—तुम तो कहते हो कि जीव निराला है, पर देखो— हम तो अभी बिच्छू पैदा करके आपको दिखाये देते हैं, यों लोगोंको शंका हो जाती है, लेकिन शंकाकी बात यहां संगत नहीं है। गोबर और बहुतसी चीजोंका सम्बन्ध होनेसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बिच्छू बन गए, लेकिन गोबर आदिकके सम्बन्धसे बिच्छूका शरीर बना, न कि चैतन्यपदार्थ। उस शरीरकी उत्पत्ति किस ही की किसी प्रकार होती है, वे सम्मूर्च्छन जन्म वाले हैं, जिनकी उत्पत्तिके, जिस शरीरकी निष्पत्तिके जो साधन हैं उन साधनोंसे उनकी निष्पत्ति होती है। जैसे मनुष्य हैं वे माता पिताके द्वारा गर्भसे उत्पन्न होते हैं, चलो उनका शरीर तो यों बनता है पर देव और नारकी जीव माता पिताके संसर्गसे नहीं उत्पन्न होते। वे तो यों ही उत्पन्न हो जाया करते हैं। अभी कोई शैया खाली पड़ी थी, थोड़ा ही देरमें देखा कि एक देव-बालक उस पर खेल रहा है। अन्तर्मुहूर्तमें ही वह देव बालक युवक बन जाता है। तो उनकी उत्पत्तिके कुछ ऐसे ही साधन हैं। नारकियोंकी उत्पत्तिके ऐसे साधन हैं। जैसे मानो छतके नीचे भागसे कोई चीज टपक पड़े, उस तरहसे पृथ्वी तलके नीचे भागसे जो उनके बिलका ऊपरी हिस्सा है वहांसे वे टपक पड़ते हैं। वे जन्मस्थान बड़ी खोटी सकल के हैं। वहांसे औंधे गिरते हैं। वहांसे गिरकर गेंदकी तरह उछलने लगते हैं। यों उनका जन्म इसी तरहसे होता है। यहां कीड़ा मकोड़ोंका जन्म इसी तरहसे होता है कि यहां वहां की कुछ चीजें मिलीं, मल मूत्रादिक मिले कि शरीरोंकी उत्पत्ति हो जाती है। यदि भूत चतुष्टयके योगमें जीवकी उत्पत्ति होने लगे तो भोजन मिलना असंभव हो जायेगा। हण्डीमें जब दाल कढ़ी बनाई जायगी तो वहां हण्डी तो पृथ्वी है, पानी, आग भी वहां है, भाप भी तेज वायु भी वहां है फिर तो वहांसे सिंह, सांप, आदमियोंकी फौज पैदा हो जायगी। सो भोजन मिलना तो दूर रहा, रसोइयाकी और आफत आ जायगी। तो देखिये—उन प्रसंगोंमें भी शरीर बना है, चेतन नहीं बना है। चेतन तो इस शरीरसे निराला ज्ञानमात्र है। जैसे किसी पुरुषको अपने इस सत्य ज्ञानमात्र तत्त्वका परिज्ञान बन जाय, आग्रह बन जाय कि मैं यही हूँ यही शरण है, यही मेरा परम देवता है, इसकी ही छायामें मैं रहूंगा, ऐसी जिसकी धुन बन जाय, संसारसे पार वही जीव तो होता है, और जो अपने इस निज आधारसे उपयोग दृष्टिको हटा कर बाहरमें दृष्टि जमाते हैं उनको शान्ति सुख तो क्या मिले, उल्टा भवभ्रमण करते रहनेसे ही अवकाश नहीं मिलता। तो यहां यह बताया गया है कि जो लोग मानते हैं कि शरीर ही आत्मा है उनका यह अभिप्राय सांव्यवहारिक दृष्टि का परिणाम है। तो इन्द्रियों द्वारा जो कुछ प्रत्यक्ष दीखा वह ही है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, ऐसा जो आग्रह किए हुए हैं उस आग्रहका यह परिणाम है जिसे सब समझते हैं।

ज्ञानादिनवगुणोच्छेदरूप मुक्तिके मन्तव्यकी संभावित आधारभूत दृष्टिकी जिज्ञासा— संसारमें दुःख प्रकट है और प्रत्येक जीव अपने आपको सभी स्थितियोंमें दुःखी अनुभव करता है। धनिक हो वह भी अपनेको दुःखी ही समझ रहा है, अधिकारी हो वह भी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

समझता है; राजा, महाराजा, चक्री हो वह भी समझता है अपनेको दुःखी । तो संसारकी कोई परिस्थिति ऐसी नहीं है कि जहां शुद्ध आनन्दवाली स्थिति हो, तब ऐसे दुःखकी निवृत्तिके लिए, इस दुःखसे मुक्ति पानेके लिए सोचने ही चले कुछ दार्शनिक तो यह ध्यान में आया कि मुक्तिमें ही पूर्ण आनन्द है । जब संसारमें इतने दुःख नजर आ रहे हैं तो इन से छुटकारा हो इसमें ही आनन्द है, तो मोक्षको पसंद किया प्रायः सभी दार्शनिकोंने । अब मोक्षको पसंद तो कर लिया, पर जिसे पसंद किया उसकी मुद्रा, उसका स्वरूप ध्यानमें तो रहना चाहिए । जब तक स्वरूप और मुद्रा ध्यानमें न रहे तब तक रुचिका, इच्छाका सवाल ही क्या उठ सकेगा ? तो कुछ दार्शनिकोंके चित्तमें यह आया, यह समझ बैठी कि मोक्ष उसका नाम है जहां पर हमारी जैसी ही ये चीजें न रहें । बस एक सीधे रूपसे संसार और मोक्षमें यह अन्तर डाला और स्वरूप बनाया । संसारका स्वरूप तो यह है जो हम लोगोंमें बातें पायी जा रही हैं । क्या पायी जा रही है ? यह बुद्धि है, ज्ञान है, विचार है, इच्छा द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, पुण्य, पाप, सुख, दुःख, संस्कार है, यहां ये ही बातें तो पायी जाती हैं । बस ये बातें न रहें तो भला तभी है, और उसीका नाम मोक्ष है । ऐसी उस मोक्षके स्वरूपकी व्यवस्था की तो मुक्तिका स्वरूप यह बना कि जहां बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार ये गुण न रहें उसीका नाम मोक्ष है । तो इस सम्बन्धमें कुछ चर्चा की जा रही है कि मुक्तिका जो यह स्वरूप रचा गया है तो इसका अर्थ क्या है ? और यह किस दृष्टिका परिणाम है ? कौनसी वह दृष्टि मूलमें प्राप्त हुई इन दार्शनिकों के कि जिसका आधार लेकर फिर पीछे कुछ भी बढ़कर यह स्वरूप रचा गया हो ।

नवगुणोच्छेदरूप मुक्तिके मन्तव्यकी संभावित आधार दृष्टि निजबुद्धिदृष्टि—अभिप्राय है निज बुद्धि दृष्टिका परिणाम । अर्थात् अपने आपकी बुद्धिमें जो आया, उससे ही तुलना की और उससे ही मोक्षकी व्यवस्था बनाई गई । देखिये मोक्षका जो उक्त स्वरूप बताया गया है इसमें कुछ बातें तो सही है । जैसे इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सुख, दुःख, संस्कार, इन ८ गुणोंका तो अभाव है ही । एक ज्ञान गुणकी बात मीमांस्य है जिसपर कि विवाद है । उन दार्शनिकोंका कहना है कि मुक्त अवस्थामें ज्ञान गुण भी नहीं रहता । जहाँ ज्ञान बिल्कुल समाप्त हो जाय, खाली आत्मा रह जाय उसीके मायने मुक्ति है । तो इसमें भी कोई विसम्वाद न था यदि इन्द्रियज व मानसिक ज्ञानका ही प्रतिषेध होता तो । जैसे हम आप लोगों की तरहका ज्ञान न रहे, इसके मायने मुक्ति है । इसमें क्या विवाद ? पर हमारी बुद्धिमें आनेवाले ज्ञानसे बढ़कर विलक्षण सहज ज्ञानस्वरूप है यह जिसके ध्यानमें न रहे और यही वर्तमान कुछ भीतरी सत्य स्वरूप है, यह जिसके ध्यानमें रहे, अतएव अपनी बुद्धिसे इस

http://sahjanandvarnishastra.org/

संसारको नापा कि ये इसी कारण दुःखी हैं, तो मुक्तिका स्वरूप भी यह बना कि जहाँ ये चीजें न रहें।

मुक्तिमें इच्छा व द्वेषकी निवृत्तिके कथनका समर्थन—देखिये—प्रकृत शेष ८ गुणोंका अभाव तो मुक्तिमें पाया ही जा रहा। वहाँ इच्छा नहीं, इच्छा विकार परिणाम है, कलुषित भाव है, और मनुष्योंमें, प्राणियोंमें, ये एकेन्द्रिय तकमें ये सब इच्छायें पायी जा रही हैं। मनके बिना भी जो इच्छा है उसका नाम है संज्ञा। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चार संज्ञायें हैं और जो मनसे इच्छा होती है उसे इच्छा स्पष्ट कहा ही है। तो प्रत्येक जीवमें चार संज्ञायें पायी जाती हैं-—आहारकी इच्छा, भयका संस्कार, मैथुनका संस्कार और परिग्रहभाव। ये सभी जीवोंमें पाये जा रहे हैं——इनका सर्वथा अभाव होना मोक्ष है, इसमें कोई अनुचित बात नहीं कही गई। इसमें तो केवल एक ज्ञानगुणपर जो हमला किया है वह एक विवादकी बात है। द्वेषके अभावका नाम मोक्ष है। यहाँ कौन ऐसा है जो कह देगा कि प्रभुके द्वेष है ? देखिये——जब स्वरूपकी व्यवस्था बनानेको कहेंगे उन्हीं लोगोंसे जो यह कहते हैं कि ईश्वर करनेवाला है। ईश्वर दूसरोंको दुःख भी देता है। किसीने पाप किया तो उसे दुःख दिया, यह ईश्वरका न्याय है, और जो धर्मात्मा जन होते हैं उनपर वह राग करता है आदि, जो इस तरहकी बातें कहते हैं उन्हींसे जब स्वरूप पूछा जाय कि बताओ भगवानका स्वरूप कैसा है ? तो उन्हें कहना पड़ेगा कि भगवानके न राग है, न द्वेष। वह तो सब जीवों पर समताभाव रखता है। इस द्वेषका नाम ही इतना बुरा है कि जिसको मोक्षमें माननेकी बात कही जाय तो वह कटुवचन ही होगा। तो द्वेषके अभावका नाम मोक्ष है। अब विचारणीय रह गयी अवमत ईश्वर चरित्रघटनायें जो रागद्वेषको जाहिर करती हैं, तो वहां भी स्वरूप कहेंगे तो यही कहेंगे कि ईश्वर वीतराग है, रागद्वेषरहित है, पर कथानक गढ़ेंगे इस प्रकारके कि जैसे—देखो——ईश्वरने जाकर संहार किया, युद्धमें हारा, उन्हें जिताया, मगर जब स्वरूपकी अपेक्षा बात होगी तो वहां भी इसी तरह कहना होगा, जैसा पहिले कह दिया गया। सो देखो जैसे सांप बाहरमें टेढ़ा मेढ़ा चलता है लेकिन जब बामीमें जायगा तो सीधा होकर ही जाना पड़ेगा। स्वरूपकी बात कहेंगे तब कहना ही होगा कि वहां राग नहीं, द्वेष नहीं, बैर नहीं, विरोध नहीं। जब कोई पुनः प्रश्न किया जावे कि कहा तो घटनामें यों है कि उसने दुर्योधनको हराया, अर्जुनको युद्धमें जिताया। तो उन्हें उत्तर सूझता है यह कि उसने न्यायके लिए या धर्मकी स्थापनाके लिए ऐसा किया, परंतु भैया ! धर्म और अधर्म तो जीवोंपर स्वयं ही छोड़ देना चाहिए। वहां वस्तुस्वरूपको देखिये—कोई किसी अन्यका कुछ करता है क्या ? कुछ नहीं, कोई किसी दूसरेको धर्म करा दे तो यह भी विडम्बना की बात बनेगी। धर्म नाम है एक शान्त शुद्ध आत्मस्वरूपकी दृष्टि, अवलोकन, उसीमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रमण, उसीके मायने धर्म हैं, इसको कौन दूसरा करा देगा ? तो प्रयोजन यह कि यह मानना होगा कि मुक्तिमें न इच्छा है, न द्वेष है, अर्थात् भगवानके राग द्वेष दोनों ही नहीं हुआ करते हैं।

मुक्तिमें प्रयत्नकी निवृत्तिके मन्तव्यका समर्थन--प्रयत्न भी मुक्तिमें नहीं रहता। जो शुद्ध द्रव्य हो गया, मुक्त हो गया, केवल आत्मा रह गया, कहते हैं ना कि कैवल्यकी प्राप्ति हुई है, तो उस कैवल्यका अर्थ क्या है ? एकत्व रह गया, केवल रह गया, प्योर रह गया, वहीका वही रह गया, इसको कहते हैं केवल, लेकिन केवल रह जानेपर तो वहाँ अनन्त गुण विकास होता है। तो अनन्त गुणविकासको देख करके कह दिया कि यह है कैवल्य अवस्था, पर शब्दोंसे यही बात निकलती है कि यह आत्मा खाली आत्मा रह जाय उसीको कहते हैं केवलदशा। जहाँ ऐसी केवलता प्रकट हुई है, केवल ज्ञान अमूर्त प्रतिभास मात्र, यह शुद्ध चेतन रह गया, वहाँ प्रयत्न क्या करना है ? उसमें तो स्वभावतः अर्थ पर्याय होती रहती है। यह शुद्ध पदार्थका स्वभाव ही है ऐसा इतना षड्गुण हानिवृद्धि रूप परिणमन होता हुआ भी वहां चलायमानपना जरा भी नहीं है। कोई सोचे कि इतनी अनन्तगुनी वृद्धि हानि होती है तो वहां कुछ बड़ा छोटा तो होगा, कुछ घटाव बढ़ाव तो होता होगा, पर शुद्ध द्रव्यमें षड्गुण हानिवृद्धि होनेपर भी ऐसा घटाव बढ़ाव कुछ नहीं हो रहा है, जिसका असर व्यक्त पर्यायपर हो। वह तो अचल है, वहां प्रयत्नकी क्या बात कही जाय ?

मुक्तिमें धर्म अधर्म सुख दुःख व संस्कारकी निवृत्तिके कथनकी मीमांसा--अब धर्म, अधर्मकी निवृत्तिपर विचार करिये। यहां धर्म अधर्मसे मतलब पुण्य पापसे है। मुक्तिमें न पुण्य रहता, न पाप। और जिसने शुद्ध आत्मतत्त्वके दर्शन किया है उसको यह पहिचान है कि पुण्य पाप दोनों समान हैं। पुण्यसे भी हम क्या पायेंगे, पापसे भी हम क्या पायेंगे ? जिसको अपने उस शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि प्राप्त हुई है उसके लिए जैसे पाप दुःखरूप, भाररूप, कलुषता रूप मालूम पड़ता है इसी तरह उसको पुण्य कर्म भी दुःखरूप, कलुषतारूप मालूम पड़ता है, वह भी भार दिखता है, क्योंकि उसकी दृष्टि तो पुण्य, पापसे रहित एक शुद्ध ज्ञानमात्र तत्त्वके दर्शनके लिए जग चुकी है। और फिर लोकदृष्टिसे देखो तो पापमें क्या होता है ? ये कीड़ा मकोड़ा बन गए, मनुष्योंमें जरा विचार करो--निर्धन हो गया कोई अथवा परिवाररहित है कोई, या परिवार प्रतिकूल है कोई, उसकी गोष्ठीके लोग शत्रु बन रहे हैं अथवा उसके स्वयं गोष्ठीके, परिवारके जन कपटी मिल गए हैं आदिक बातें हैं तो कहा जायगा कि पापका उदय है और इससे ही यह जीव दुःखी होता है। ऐसी तो स्थितियां करीब समझ लीजिए सभी पापोंकी हैं और पुण्यकी स्थितिमें क्या मिलता है ? बड़े महल मिलते हैं, आराम मिल रहा है, नौकर भी सेवायें करते हैं, और-और भी बड़ी सेवायें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

चल रही हैं, प्रजाजन भी पूछताछ रखते हैं, बड़ी-बड़ी सभाओंमें बड़ा सम्मान भी प्राप्त होता है, लोग आदरसे ऊँचेपर बिठाते हैं आदिक बातें पुण्यके उदयमें देखी जाती हैं। लेकिन जरा ऐसे पुण्यके उदयमें रहनेवाले व्यक्तियोंके दुःखपर कुछ विचार तो करो। अरे वे तो अन्दर ही अन्दर बहुत दुःखी रहा करते हैं, उन्हें कहाँ विश्राम मिल पाता है ? अनेक प्रकार के झंझट उनके सामने खड़े ही रहते हैं। ये पुण्यके उदय तो ज्ञानी पुरुषको पापकी तरह प्रतीत होते हैं। पुण्य और पापसे रहित जो आत्माकी शुद्ध ज्ञान अवस्था है, जहाँ सुख दुःखादिकका पूर्ण अभाव है उसका नाम मोक्ष है यह बात प्रसिद्ध है, लेकिन चर्चाकारके सुख से मतलब इन वैषयिक सुखोंसे नहीं है, सुख मात्रसे मतलब है। उस चर्चाकारने जाना ही नहीं होगा कि इन वैषयिक सुखोंसे अतिरिक्त कोई वास्तविक सुख होता है। अगर ये वैषयिक सुख ही लिए जायें तो साफ बात यह है कि ऐसे सुख दुःखका अभाव होना, इसका नाम मोक्ष है। इसी प्रकार संस्कार जो विकल्पके संस्कार विषयभोग और उपभोगके संस्कार लगे हुए हैं उन संस्कारोंके अभावका नाम मोक्ष है यह भी मंतव्य संगत हो जाता है।

मुक्तिमें ज्ञान और आनन्दके अभावकी मान्यताका मिथ्यापन—उक्त मोक्षस्वरूपकी मीमांसामें यह ज्ञातव्य है कि जो इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कारकी निवृत्ति मुक्ति में कही है वह तो ठीक है, किन्तु ज्ञानके अभावका नाम मोक्ष है, यह बात अटपट कही गई है। ज्ञान तो आत्माका स्वरूप ही है।

अच्छा बतलाओ कि आत्माका स्वरूप क्या है ? ज्ञान नहीं है तो उसको कहेंगे चित्। चित् तो शब्दोंसे कहा, मगर चित्में बात क्या पड़ी है ? जहां कुछ भी प्रतिभास न हो, जहां कुछ भी प्रकाश नहीं, जानना नहीं, वहां चित्का मतलब क्या रहा ? शब्द कुछ भी रख लीजिए– जैसे कोई किसी गरीब आदमीका नाम रख दे लक्ष्मीचन्द, लक्ष्मीपति अथवा कुबेरराय, तो कहीं नाम रख देने मात्रसे वैसा हो तो नहीं जाता। और कोई व्यक्ति धनिक जैसा है उसका नाम भी यदि वैसा न रखा जाय तो भी वह लौकिक धनसे भरापूरा है। ऐसे ही आत्माका स्वरूप चेतना, प्रतिभासन, ज्ञान, दर्शन आदिक कुछ भी न माना जाय तो फिर वह आत्मा रहा ही क्या ? तो ज्ञान तो आत्माका स्वरूप है और इसी प्रकार आनन्द भी शुद्धरूपसे बर्तनेवाला जो भीतरी एक परम आल्हाद है वह भी आत्माका स्वरूप है। उनके अभावका नाम मोक्ष कैसे हो सकता है ? तो यद्यपि ज्ञान और आनन्दके अभाव का नाम मोक्ष नहीं कहा जा सकता, फिर भी अपनी ही बुद्धिसे ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप तकनेवाला दार्शनिक अन्य और ऐबोंके अभाव बतानेके साथ-साथ ज्ञान और आनन्दके अभावको भी बता देता है कि जहां ये ६ गुण नष्ट हो जायें उसको मोक्ष कहते हैं, सो ऐसे इस स्वरूपको रचनेवाले दार्शनिकोंने क्या तका अपने को ? मेरेमें ज्ञान जो वर्त रहा जो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

और अन्य लोगोंसे भी विशिष्ट ज्ञान है। बहुत बारीक हम धर्म, मत आदिक की चर्चा भी करते है तो ऐसे अपने आपकी बुद्धिमें परखे गए ज्ञानको तका, जो क्षायोपशमिक और अपूर्ण है। किसका ज्ञान यहां ऐसा नजर आता जो कि सर्व विषयोंमें कुशल हो, पूर्ण हो ? लेकिन जहां मिथ्याभाव है, जहाँ कषायमें तीव्रता है, जहां मिथ्यात्व लगा है वहां कोई अपने आपको सोचता ही नहीं कि मैं कुछ नहीं जान रहा हूँ, और जो जान रहा हूँ वह विकार जैसी स्थिति है, अपूर्ण है। मिथ्यात्वमें ऐसा ही प्रतीत होता है, लेकिन कितना भी विशाल ज्ञान पाया हो, केवलज्ञानसे पहिले के सब ज्ञानको अज्ञान ही बताया गया है। औदयिक-मिथ्याज्ञान न सही, केवलज्ञानी होनेसे पहिले सम्यग्दृष्टिका भी ज्ञान अज्ञान है, पूर्ण नहीं है, केवलज्ञान नहीं है। मिथ्याज्ञानकी बात नहीं कह रहे। खैर, मिथ्यात्वके उदयमें जो पुरुष चल रहे हैं उनके ज्ञानको क्या कहा जाय ? जैसे क्षायोपशमिक ज्ञान (मलसहित ज्ञान) अपना है वैसा ही तो दूसरी जगह देखना चाहा, सो दिखा मुक्तिमें, इसका भी अभाव है। यों तुलना की और जैसे आकुलतापूर्ण विनाशीक पराधीन कल्पनामात्र जो सुख है उसीको उन्होंने सुख का स्वरूप करार किया। तब इसके अभावका नाम मोक्ष रखा गया। यों अपनी बुद्धिसे जो अपने आपमें तका है और साथ ही साथ एक मोक्ष सिद्धान्तकी रचना बनाने चले तो यह उन्हें दीखा कि इन ज्ञानादिक ९ गुणोंका अभाव होना सो ही मोक्ष है।

शून्यवादके मन्तव्यकी संभावित आधारभूत दृष्टिकी जिज्ञासा——अब एक नवीन चर्चा और आ रही है। बड़े दार्शनिक छांट करने की धुन रखनेवाले लोग जब जिसे कहते हैं कि परमाणुकी भी खाल निकालना अर्थात् बड़ी बारीक चर्चा करें ऐसी चर्चाकी धुनमें रहने वाले दार्शनिकोंने अन्तमें यह देखा कि सब गपोड़ा है, तत्त्व तो शून्य है। जैसे हम भींतमें देख रहे हैं तो कह रहे कि हां है यह भींत, यह इतनी लम्बी चौड़ी है, पर इसमें भी तत्त्व निर्णय करनेवाले अन्य लोग कहते है कि उसमें एक भींत कहां है, इसमें तो करीब ६ हजार ईंटें हैं। तब कोई बोला कि प्रत्येक ईंट भिन्न-भिन्न ही है। और मिट्टीके असंख्याते कणोंसे मिल मिलकर यह ईंट तैयार हुई है, तो कोई अन्य व्यक्ति फिर बोला कि वह कण भी एक चीज नहीं है, वह एक कण भी अनन्त परमाणुवोंका पुञ्ज है तो कोई नया व्यक्ति फिर बोल उठा कि अरे वह परमाणु भी एक तत्त्वकी चीज कहां है ? उसमें भी रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि अनेक चीजें पड़ी हैं, उसे तुम एक चीज कैसे कहते हो ? उसके अन्दर और देखो तो कोई कहता कि रूप भी एक उसमें कहाँ है, उसमें उसकी अनेक डिग्रियां पड़ी हैं। कहां अविभाग प्रतिच्छेद है ? वहां तुम दृष्टि कहां देते हो ? लो परमाणुकी भी खाल नोचने वाले दार्शनिक अथवा सत्की खाल नोचनेवाला, समयकी खाल नोचनेवाला कहता है कि एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर कोई परमाणु मंदगतिसे जा रहा है वह एक समयमें पहुंचता है।

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो मंदगतिसे जा रहा परमाणु तो उस गतिके बीच एक ही प्रदेश रहा क्या ? प्रदेश रहा ही नहीं बताते हैं, उससे लगे हुए दूसरे प्रदेशपर पहुंच गया। अरे जब अणु मंदगतिसे चल रहा है तब वहां कितने ही प्रदेश होंगे ? जब तेज गतिसे चले तो कितना ही मंद चले तो और ज्यादह हो गया, मंदगतिसे चलेगा तो प्रदेश ज्यादह हो जायेंगे। लो प्रदेशकी भी खाल नोच ली। और समयकी बात देखो--एक समयमें परमाणु १४ राजू गमन कर जाता है। अरे १४ राजू गमन करे तो एक-एक समयमें करे। उचक कर भी जायगा तो बीचकी जगह छोड़कर तो न जायगा। इतने प्रदेशोको लांघा तो वह एक समय कैसे कहलायगा ? जब तर्क वितर्कपर ही उतावली हो जाती है तो उन्हें ऐसा दीखता कि कुछ नहीं है, शून्य ही तत्त्व है, अथवा मानो किसी निर्जन स्थानमें बहुतसे साधु संन्यासी रहते हैं, स्याद्वादकी नीतिसे अनेकान्तका वर्णन चलता है। वर्णन चलनेकी पद्धतियां दो होती हैं--बड़ेसे छोटेकी ओर आना और छोटेसे बड़ेकी ओर आना। संक्षेपसे विस्तारकी ओर आना, विस्तारसे संक्षेपकी ओर आना, यह ही तो पद्धति होगी वर्णन करनेमें। अब वर्णन हो रहा है स्याद्वादविधिसे और साथ ही साथ वहां भेददृष्टिसे भी वर्णन चल रहा है तो जहां समझा गया पर्यायसे गुण सूक्ष्म है, गुणोंमें भी अनन्त गुण हैं और अविभाग प्रतिच्छेद उनमें अनेक हैं, अस्ति भी है, नास्ति भी है, क्रोधरूपमें आया हुआ परिणमन भी है। एक दृष्टिसे देखते हैं तो क्रोधमें मान आदिका स्वरूप नहीं है, बहुत-बहुत वर्णन होनेके बाद किसी दार्शनिकको उन सभी विषयोंमें कुछ कुछ प्रवेश करनेसे यह ज्ञात हुआ कि न तो यह ही है यहां और न यह ही है यहां। न कषाय है, न कषायरहित है, न शान्ति है, न अशान्ति है, न व्यक्त है, न अव्यक्त है। शून्य ही है वह तत्त्व। तो किसी भी पद्धतिसे जिसको उस शून्य तत्त्वकी बुद्धि हुई है उसके सम्बन्धमें यहां जिज्ञासा की जा रही है कि सर्व कुछ शून्य है। यह कौनसी दृष्टिका परिणाम है ? तो इसके उत्तर दो हो सकते हैं--एक तो अवक्तव्यदृष्टिका परिणाम है और दूसरी पद्धतिसे अनधिकृत पैनी दृष्टि बनाने का परिणाम है।

शून्यवादकी मीमांसा--मान लो शून्य है, लेकिन शून्य माननेवाले इस शून्य तत्त्वपर व्यवस्थित रह सकेंगे क्या ? अच्छा, यह ही बतायें शून्य माननेवाले लोग कि तत्त्व शून्य है—यह बात प्रमाण सिद्ध है या नहीं है ? यही बात सोचें आप कि अगर प्रमाण सिद्ध है तो शून्य ही है यह क्यों कहा ? प्रमाण भी है। जिस प्रमाणके बलसे शून्यपना सिद्ध किया गया है वह प्रमाण क्या शून्य है ? वह प्रमाण क्या निःस्वरूप है ? अगर निःस्वरूप है, प्रमाणशून्य है, कुछ भी तत्त्व नहीं है तो झूठसे सत्य की गई बात सच कैसे हो सकती है ? और फिर जिसे तुम समझाते जा रहे हो कि यह है शून्य तत्त्व। तो वह पुरुष, शिष्य भी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कुछ है कि नहीं याने शिष्य भी शून्य है अथवा शून्य भी सत् है या असत् ? अगर वह कुछ नहीं है तो इसके मायने तुम समझानेवाले पागल हो रहे हो, याने चीज कुछ नहीं है, समझनेवाला भी कोई नहीं है और तुम ऐसा परिश्रम किये जा रहे हो, क्योंकि कोई समझने वाला है नहीं। तुम मानते हो कि सब शून्य है। अगर समझनेवाला है तो चलो अभी कोई हुआ तो सही। अब यह बताओ कि तुम कहनेवाले भी कुछ हो कि नहीं ? शून्यवाद बताने वाले तुम भी वास्तवमें पदार्थ हो कि नहीं ? अगर नहीं हो तुम पदार्थ तो फिर तुम ही जब कुछ चीज नहीं हो, तुम ही सच नहीं हो तो फिर तुम्हारा शून्यवाद कैसे मान लिया जाय ? तो शून्यवाद तत्त्वकी व्यवस्था शून्यत्वके एकान्तमें की नहीं जा सकती। शून्यवाद यह तो अवक्तव्यदृष्टिका परिणाम है। अथवा कुतर्कका परिणामहै। जब वस्तुमें अनेक प्रकारके धर्म विदित होते हैं और वहाँ इन्हें एक साथ देखना चाहते हैं, कहना चाहते हैं, एक है, वह कहा नहीं जाता, तब फिर उसकी दृष्टि यह बनती है कि अजी वह तो कुछ नहीं है, शून्य है और स्याद्वादसे अपेक्षायें लेकर भी सही सबका निषेध चल रहा है। एक तरफ कहते कि आत्मा है, दूसरी तरफ कहते कि नहीं है परकी अपेक्षा नहीं है। अच्छा···नहीं है। अरे नहीं है, ऐसा भी नहीं है ? वह स्वरूपसे है। लो किसी बातपर जब व्यवस्थित न हो सके तो वह तत्त्व शून्य ही है तो वहाँ कुछ विकल्पका आधार नहीं बन पाता, ऐसे इस कुतर्कवादमें अथवा अवक्तव्य दृष्टि रखनेमें शून्य ही तत्त्व है, वह ही सत्य है, ऐसा अभिप्राय बन जाता है, तो शून्यवाद भी एक अपने आपमें उठे हुई कुतर्कोंका परिणाम है। वस्तुतः जिनकी अर्थक्रिया हो रही है वे सब पदार्थ हैं, शून्य कैसे कहे जा सकते हैं ?

चित्राकारमय विज्ञानाद्वैतमात्र तत्त्वके मन्तव्यकी संभावित आधारभूत दृष्टि––पहिले दो चर्चायें आयी थीं––एक ब्रह्माद्वैतवादकी, दूसरी,विज्ञानाद्वैतवादकी। ब्रह्माद्वैतवादमें तो ऐसा संकलन है, ऐसा एकत्व जाना है कि यह चराचर जगत चेतन अचेतनरूप समस्त विश्व यह सब एक ब्रह्मस्वरूप है। यहाँ ज्ञान और ज्ञेय इनकी कोई चर्चा न थी। सभी एक ब्रह्म है और भ्रमसे यह सब ज्ञान भी भ्रमरूप लग रहा है और ये पदार्थ भी भ्रमसे ही जंच रहे हैं। सब कुछ भ्रान्त है, एक ब्रह्म ही है। इसके बाद ज्ञान ज्ञेयमें से एक ज्ञानतत्त्वको स्वीकार करते हुए विज्ञानाद्वैतवाद हुआ कि नहीं, इतना गफला मत करो। एक ज्ञानतत्त्वको मान लो कि सारा विश्व एक ज्ञानमात्र ही है और वह भी कैसा ज्ञानमात्र ?···शुद्ध ज्ञानमात्र। ये बाहरी पदार्थ तो हैं ही नहीं। ये भ्रमसे जंच रहे हैं, और यह ज्ञानमें भी जो कुछ जंच रहा है वह भी भ्रमसे जंच रहा है। वह तो केवल एक शुद्ध ज्ञानमात्र है। यह विज्ञानाद्वैत क्षणिकवादियोंका सिद्धान्त है। ऐसा विज्ञान ध्रुव नहीं है, किन्तु क्षण-क्षणमें नया-नया होता चल रहा है और केवल वही एक विज्ञान है अथवा समस्त विज्ञानोंको एक विज्ञानमें ही डाल लिया

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

गया है। तो ब्रह्माद्वैतसे कुछ भेद बना विज्ञानाद्वैतमें और विज्ञानाद्वैतसे भेद करके अब एक दार्शनिक कह रहा है कि हाँ मान लिया कि विज्ञानमात्र तत्त्व है किन्तु वह ज्ञान कोरा शुद्ध ज्ञान नहीं है, किन्तु वह ज्ञान नाना आकारमय है। इस सिद्धान्तने बाहरी पदार्थोंको तो भ्रमरूप ठहरा दिया। ये बाहरी पदार्थ भ्रमसे जंच रहे हैं, लेकिन ज्ञानमें आकार बन रहा, प्रतिभास बन रहा, वह विविधता सत्य है। जब कि विज्ञानाद्वैतने ज्ञानमें आये हुए आकारको भी सत्य नहीं माना और ब्रह्माद्वैतने तो ज्ञान और ज्ञेय इस प्रकारका द्वैत भी सत्य नहीं माना।

चित्राकारमय विज्ञानमात्र अद्वैततत्त्वकी कल्पनाके स्रोतका एक चित्रण—शून्यसे लेकर चित्राद्वैत तककी बातको यदि इस कल्पनामें सुनो कि मानो किसी निर्जन स्थानमें संन्यासी लोग बैठे हुए हैं, जैन साधु भी साथमें बैठे हैं, व्याख्यान चल रहा है स्याद्वादकी पद्धतिका तो वह व्याख्यान तो सूक्ष्म है और समय-समयपर दृष्टियोंकी अपेक्षासे विभिन्न कथन वाला है तो ऐसा कथन और सूक्ष्म तत्त्व सुनकर कोई दार्शनिक शून्यवादपर उतर आया। यह भी नहीं, यह भी नहीं, और बहुत ही अन्तःसूक्ष्म दृष्टिसे देखने गए तो लगा कि शून्य ही तत्त्व है। बात क्या है? और ऐसा जंचता भी है। कोई अगर चेतनकी व्याख्या संक्षिप्त और सूक्ष्म करे तो चेतन है, तो है तो वह क्या करता?…जानता?…नहीं, जानना भी मोटी बात है।…तो क्या करता?…जाननमात्र है?…नहीं, वह भी एक मोटी बात है, वह तो चिन्मात्र है।…तो वह चिन्मात्र क्या हुआ?…शून्य जंचा। इस तरह जब तत्त्वकी सूक्ष्म व्याख्या सुनी तो उन्हें जंचा कि शून्य है। शून्यके बाद मानो उसीको लग रहा है कि शून्य है, यह भी तो कुछ प्रतिभासकी चीज बन रही है। तो वहांसे फिर थोड़ा हटकर दर्शन बनता है उसका कि नहीं, प्रतिभासस्वरूप है। तो फिर बुद्धिमें आया कि वह प्रतिभासस्वरूप केवल आकाशकी कोंपल ही तो नहीं है, कोई असत्का ही तो वर्णन नहीं है। कोई है तो सत् चीज। तो ब्रह्माद्वैत जंचा, लेकिन ब्रह्माद्वैतमें ज्ञान ज्ञेयकी कोई व्यवस्था न थी। विकल्प हुआ तो ज्ञानाद्वैत जंचा और उसमें जब नाना आकार दिखे, ज्ञानमें तो जंचा कि यह चित्राद्वैत है। नानाकार स्वरूप यह ज्ञानमात्र है। यहां उस दर्शनकी चर्चा की जा रही है कि जो ऐसा मानते हैं कि यह सारा विश्व क्या है? नानाकार स्वरूप ज्ञानमात्र है, और कुछ नहीं है, यह अभिप्राय किस दृष्टिका परिणाम हो सकता है?

नानाकारित विज्ञानाद्वैतके मन्तव्यकी संभावित दृष्टिका आरोपण—उक्त जिज्ञासाके समाधानमें कहते हैं कि ज्ञानाकार ज्ञानमात्रके उस मंतव्यके आधारको खोजते हैं तो विदित होगा कि वह सब एक ज्ञानाकारदृष्टिके एकान्तका परिणाम है। बात यहाँसे चलायें कि ज्ञानके विषय अनन्त धर्म हैं अर्थात् ज्ञान अनन्त भावोंको, अनन्त पदार्थोंको, अनन्त धर्मोंको जानता है और जब उन अनन्त भावोंको, अनन्त धर्मोंको जाना तो विषय करनेवाला यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ज्ञान भी उन अनन्त आकारोंरूप परिणम गया। अर्थात् ज्ञानमें वह इतना ही विकल्प हुआ, इस तरहसे यह ज्ञान, इसका यह आकार ज्ञानकी मुद्रा ज्ञेयाकार रूपमें बनकर नानाकार हो जाती है। सो यहाँ यह नानाकारोंका तो ध्यान कर रहा, नानाकारोंकी पकड़ रखी, साथ ही आग्रह रखा विज्ञानाद्वैतका तो ऐसे अभिप्रायमें अर्थात् ज्ञानाकार दृष्टिसे सम्मिलित विज्ञानाद्वैत दृष्टिके अभिप्रायमें। यह मंतव्य बना कि यह सारा विश्व नानाकारमय एक विज्ञानमात्र है। इस अभिप्रायकी दृष्टि तो है और जिस दृष्टिसे यह मंतव्य है सो भी बात है, ऐसा एकान्त हो जानेके कारण अर्थात् बाह्य पदार्थोंका अभाव करार कर लेनेके कारण यह मंतव्य मिथ्या हो जाता है। इस मंतव्यमें यह समाया हुआ था कि घर, भींत, लोग आदिक ये कुछ भी चीजें नहीं हैं, ये सब भ्रमसे दिख रहे हैं। जैसे किसीको स्वप्नमें कुछ चीजें दिखीं तो भ्रमसे दिखती हैं और भ्रम मिट जानेपर फिर ये चीजें कुछ नहीं दिखतीं, तो उस सिद्धान्तका यह भ्रम मिटता कैसे है कि जब इसके विकल्प मिट जायें, इसे कुछ चीजें दिखें नहीं तो समझो कि भ्रम मिट गया। केवलज्ञान ही तका, सो उनकी अभ्रान्त दशा है तो इस बुद्धिमें यह मंतव्य आया, इस ज्ञानसे दिखा, नानाकारमय जंचा और इस ही ज्ञानका एकान्त किया तो दृष्टिमें आया।

अद्वैतवादमें स्वप्नदृष्ट मिथ्या पदार्थोंकी भांति पदार्थोंके भ्रम करनेका भ्रम—भ्रममें ही नाना अर्थके मंतव्यका मुख्य उदाहरण यह है कि स्वप्नमें देखी हुई बात जैसे असत्य होती है, जग जानेपर फिर उस बातको चाहें कि देख लो तो किसी तरह देख भी नहीं सकते। जैसे एक कथानक है कि किसी पुरुषको सोते हुएमें एक स्वप्न आया कि मुझे राजाने ५०० गायें इनाममें दिया, वे सब गायें बहुत बड़ी गौशालामें बंधी हुई हैं। ग्राहक लोग खरीदनेके लिए आये, उन्होंने ५० गायें छाँट लीं। ग्राहकोंने पूछा ये गायें कितने कितने रुपयेमें बेचोगे? ···दो दो सौ रुपयोंमें। ग्राहकोंने भी कुछ रुपये लगाये, उसने भी कुछ रुपये कम किए, फिर ग्राहकोंने कुछ रुपये बढ़ाये। इस तरह तय होते-होते मान लो ८०) रुपये प्रति गायके हिसाब से ग्राहकोंने लेना निश्चय किया और १००) रुपये प्रति गायके हिसाबसे उस पुरुषने गायें देनेका निश्चय किया। जब दोनोंकी बात तय न हुई, तय होनेमें थोड़ी ही कसर रह गई तो उस समय बेचनेवालेके कल्पनाओंका वेग बढ़ा, और कल्पनाओंका वेग बढ़नेसे नींद भी खुल गई। अब नींद खुल जानेपर वह पुरुष क्या देखता है कि न वहाँ गायें हैं, न कोई खरीददार है, वह तो एक स्वप्नकी बात थी। अब चूंकि करीब ४०००) मिट रहे हैं, इसलिए वह पुनः आँखें मींचकर उसी तरहकी स्थिति बनाना चाहता है जैसी कि स्वप्नके समय थी। उस समय जो सुख (मौज) मान रहा था वह स्थिति बनाना चाहता है, पर कहाँसे बन जाय वह स्थिति? अरे वह तो एक स्वप्नमें देखी हुई बात थी। तो ऐसे ही समझ लो कि

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यहाँ जो कुछ दिख रहा है वह स्वप्नवत् है, मिथ्या है, कुछ नहीं है। इसी तरहसे ये नानाकारमय विज्ञानवादी बाह्य अर्थको मिथ्या सिद्ध करते हैं।

ज्ञानाकारसम्मिलित विज्ञानाद्वैताग्रहका परिणाम—नानाकारमय विज्ञानमात्रके मन्तव्य का अभिप्राय तो ज्ञानाकारको निरखने और विज्ञानके अद्वैतकी हठ करके उत्पन्न होता है। वस्तुतः तो पदार्थ ६ प्रकारके होते हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। पदार्थोंकी संख्याकी कितनी सुन्दर व्यवस्था बता दी इन स्याद्वादी सैद्धान्तिकोंने कि यहाँ किसी तरहका व्यभिचार नहीं आता। अर्थात् कोई पदार्थ ऐसा नहीं कहा गया कि किसी असाधारण धर्मके द्वारा एक बन बैठे और कोई पदार्थ ऐसा नहीं कहा गया कि जिसकी प्रमाणता सिद्ध न हो। तो ज्ञान तो जीवका परिणमन है, जीवका स्वरूप है। उसके अतिरिक्त ५ पदार्थ तो अभी और पड़े हुए हैं। पुद्गल——जो आँखों दिखते हैं, जो इन्द्रिय द्वारा समझमें आते हैं, आकाश—जिसका लोग अनुमान कर लेते हैं, और काल तकको भी किसी न किसी रूपमें परख लेते हैं, मगर धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्यका तो नाम तक भी अनेक लोग नहीं जानते। एक गतिहेतुक और स्थितिहेतुक द्रव्य है उसे कुछ समझते ही नहीं। यों जो भी दर्शन निकले वे सब दर्शन आखिर वे भी चेतन हैं, उनके ज्ञानसे निकले, उनकी दृष्टिसे निकले। तो जो उनकी दृष्टियां हैं ये सब नय हैं। नय और प्रमाणसे कोई मनुष्य अलग नहीं है। इतना फर्क हो गया कि किसीने नयका एकान्त किया, किसीने नयका समन्वय किया, पर नय न हो किसी इस मनुष्यके चित्तमें तो फिर वह मनुष्य ही न रहेगा। बुद्धि है, ज्ञान है, दृष्टि है, वह ही तो नय कहलाता है। तो सभी जीव (मनुष्य) ये सब नयस्वरूप हैं। कोई किसी विचारमें मग्न है, कोई किसी दृष्टिमें मग्न है। यहाँ इन दार्शनिकोंको यह नजरमें आया कि ज्ञान तो है तत्व, लेकिन वह नानाकाररूप है।

बाह्यार्थप्रतिषेधक चित्राद्वैतवादकी मीमांसा—अब जरा उस ज्ञानकी नानाकारताके सम्बन्धमें विचार तो करो। नानाकार होकर भी ज्ञान सब एक है तो एक कैसे हो गया? क्या ये पदार्थ जो प्रतिभासित हुए हैं वे और ज्ञान एक हैं? इस कारण चित्रित विज्ञान मात्र अद्वैत हैं अथवा एक साथ यह ज्ञान भी उत्पन्न हुआ, पदार्थ भी उत्पन्न हुआ और ज्ञानके साथ ही हैं, ये चल रहे हैं इस कारण एक हैं। अज्ञान और पदार्थोंके एकत्वके कितने विकल्प हो सकते हैं? या तो यों कहो कि जब ज्ञान उत्पन्न हुआ तब ही पदार्थ उत्पन्न हुआ। इन लोगोंकी दृष्टिमें यह समझमें आया कि जब तक हम जानें नहीं किसीको तब तक वे उत्पन्न ही नहीं होते। जब हमने जाना तब उसकी सत्ता है और न जाना तो उसकी सत्ता नहीं। इस आशयमें ऐसा भी दिखता है कि मेरे ज्ञानमें आये तो वह पदार्थ उत्पन्न है, सो ज्ञानके साथ ही उत्पन्न होता है पदार्थ, इस कारण ज्ञानकी और पदार्थोंकी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

एकता है। अब इस पर विचार करिये—इन दार्शनिकोंका जो भगवान है सुगत, यह योगाचार बौद्धका सिद्धान्त है। तो जब सुगत सर्वज्ञ हुए तो उसके ज्ञानमें इन सब जीवोंके ज्ञान भी तो आये। तो इसके मायने हैं कि सुगतके ज्ञानके साथ हम सब ज्ञानोंकी भी उत्पत्ति हुई तो इन सुगतज्ञान व लोकज्ञान दोनों ज्ञानोंमें इनका अभेद हो जाना चाहिए अर्थात् या तो वे भगवान हमारी तरह मूर्ख बन जायें या हम सब भगवानकी तरह सर्वज्ञ बन जायें, सो ऐसा ये नहीं मानते। ऐसा भी नहीं कह सकते कि जब सुगत भगवान भगवान हुए थे तो ये मनुष्य लोग न थे। यदि ये मनुष्य न होते तो उनकी कौन प्रणाम करता, उनका उपदेश कैसे होता? तो यह कैसे कह दिया कि ज्ञानमें जो आकार आ रहे हैं वे तो सत्य हैं, पर उस आकारकी तरह जो बाहरमें पदार्थ जंच रहे हैं वे असत्य हैं। यदि कहो कि हम इनका अन्तर नहीं सिद्ध कर सकते हैं यहाँ ज्ञानमें कि यह तो शुद्ध ज्ञानरूप तत्त्व है और ये पदार्थोंके आकार, ये इनके आकार हैं। जब हम यहां ही अन्तर नहीं कर पाते, इससे हम जानते कि सारा ज्ञानमात्र है सो भी बात नहीं है। अन्तर क्यों नहीं कर सकते? यह आकार है वह ज्ञानस्वरूप है, स्वभाव है। प्रयोजन यह है कि ऐसा एकान्त करना भी सही नहीं है कि सारा विश्व एक चित्रविचित्राकारमय ज्ञानस्वरूप मात्र है अर्थात् ज्ञानातिरिक्त कुछ नहीं है। जो यह चित्रता दिख रही है वह सब भी ज्ञानरूप ही है, ऐसा अभिप्राय कोई बनाये तो ज्ञानाकारकी दृष्टि की और पहिले संस्कारमें बसे हुए विज्ञानाद्वैतकी दृष्टि रहे तो उस मेलमें यह अभिप्राय है।

शब्दाद्वैतवादकी मीमांस्य चर्चा—अब एक दूसरी चर्चा आ रही है, जिसका यह कथन है कि धीरे-धीरे आपको शून्यसे निकालकर चित्राद्वैत तक ले आये, लेकिन यह भी परख लेना चाहिये कि जब भी वह ज्ञान हुआ तो भीतरमें कुछ शब्द उठते हुए ही हुआ। जैसे आंखें खोलकर जब हम सामने देखते हैं तो भींत भी दिखी और भीं और त ऐसे शब्द भी जगे। कुछ भी पदार्थ देखते हैं तो उसका जो कुछ भी ज्ञान बनता है वह कुछ शब्दोंको लिए हुए बनता है, अन्यथा बतलाओ कोई किसी ज्ञानका विवरण दिया जाय और शब्दोंकी छुट्टी रखे तो क्या कोई दे सकेगा? अतः यह बात तो ठीक ही जंच रही है कि जो कुछ है वह शब्द मात्र है. शब्दके सिवाय और कुछ नहीं है, जिसे तुम ज्ञान कहते हो वह भी शब्द-मात्र है। ज्ञान शब्दके सिवाय जब और कुछ नहीं है तब जिसे ज्ञान कहते हो वह भी शब्दमात्र है, क्योंकि यह क्या चीज है? कहते हैं कि भींत। अच्छा इन शब्दोंको छोड़ करके फिर यह अर्थ क्या रहा? इसमें ये शब्द भिदे होते हैं। इस भींतके नस-नसमें वे अक्षर पड़े हुए हैं तब हम कह सकेंगे कि यह भींत है और तब हम जान सकेंगे कि यह भींत है। दार्श-निकोंकी सूझ है और सामान्यतया कुछ ऐसा लगता ही है—जिसे हम जानते हैं वहां शब्द

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भीतर उठा करता है। शब्दोंके उठे बिना ज्ञानकी मुद्रा ही नहीं बन पाती। इससे यह जाहिर होता है कि यहां सब कुछ जो नजर आ रहा है वह सब शब्दस्वरूप है। दुनियामें ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्दके सम्बन्धसे रहित हो। यह शब्दाद्वैतवादी दार्शनिककी ओर से बात कही जा रही है। कोई बताये ऐसा ज्ञान जो कि शब्दके सम्बंधसे रहित हो। जो भी कोई ज्ञान करेगा उसमें अन्तर्जल्प होगा। अधिकसे अधिक कोई अपने ओंठसे ओंठ मिला ले, कुछ बोले ही नहीं तो मत बोले, लेकिन जब भी वह ज्ञान करेगा तो अन्तर्जल्प उसके उठेगा, तो शब्दोंके अन्वय बिना, सम्बन्ध बिता जब कोई ज्ञान ही समझमें नहीं आ रहा है और इतना ही क्या, कोई बाहरमें पदार्थ भी समझमें नहीं आ रहा, बड़ी जल्दी जल्दी दृष्टि करके भी चारों ओर निरख लो तो बोलनेमें तो देर लग जायगी, मगर जो कुछ भी दिखा—घड़ी, टेबिल, चौकी, भींत आदि, ये सारे शब्द भीतर उठ रहे हैं और तब ज्ञान बनते जा रहे हैं। इससे हम यह जानते हैं कि साराका सारा विश्व शब्दमें से बीधा हुआ है और शब्दोंमें ही समाया हुआ है। शब्दको छोड़कर और विश्व कुछ भी चीज नहीं है।

पदार्थों की शब्दानुविद्धताके मन्तव्यका निराकरण——अब जरा इस दर्शनपर विचार करो——इनका कथन है कि सारा विश्वसमूह शब्दोंसे बीधा हुआ ही ज्ञानमें प्रतिभासित हो रहा है। तो यह बतलाओ कि सारा विश्व जो शब्दोंसे बीधा हुआ ज्ञानमें आ रहा तो किस प्रमाणसे आ रहा, प्रत्यक्षसे या अनुमानसे ? यदि कहो कि प्रत्यक्षसे ज्ञानमें आ रहा, शब्द से बीधा हुआ है यह पदार्थ, तो प्रत्यक्ष तो दो तरहके होते हैं——एक इन्द्रियजन्य, एक स्वसम्वेदनवाला। तो इन्द्रियजन्य ज्ञानसे तो यह बात नहीं समझमें आती। जब हम भींत देख रहे हैं तो यह भींत पदार्थका ज्ञान आँखोंद्वारा हुआ है, न कि कर्णद्वारा। और जो शब्द सुनाई देते हैं वे कर्णद्वारा सुनाई देते हैं, और कितना अन्तर है कि शब्दका ज्ञान तो हुआ कानोंसे और पदार्थका ज्ञान हुआ ५० हाथ दूरपर स्थित भींतका और फिर भी कहते हो कि ५० हाथ दूर रहनेवाला पदार्थ शब्दसे बीधा हुआ होता है। तो इस बातको कौन मान लेगा ? तो इन्द्रियाँ तो अपने-अपने रूपादिक ज्ञानोंको विषय करनेमें नियत हैं। कर्ण शब्द इन्द्रियका विषय है, वह आँखोंके द्वारा कैसे जाना जा सकता है ? तो इन्द्रियसे तो पदार्थ शब्दसे बीधा हुआ है, यह समझमें नहीं आता और स्वसम्वेदनसे समझना चाहें तो वहाँ शब्द की चर्चा ही नहीं है। तो कैसे समझ लिया जाय कि यह सारा विश्व शब्दोंसे बीधा हुआ है ? शायद यह कल्पना कर सकते हो कि जब हम ज्ञानद्वारा पदार्थको जानते हैं तो इस ज्ञानमें ऐसा जंच रहा कि शब्द भिड़े हुए हैं, क्योंकि ज्ञान करते हैं तो शब्दोंके साथ ही यह ज्ञान जगता है। तो शब्दोंसे भिड़ा हुआ है ज्ञान, इसका अर्थ क्या है ? सारा विश्व शब्दोंसे भिड़ा हुआ है, क्योंकि पदार्थको जानता है सो उसका नाम तुरन्त ध्यानमें आ जाता है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

यह कहना गलत है कि जहाँ पदार्थ है वहीं शब्द पड़ा है। शब्द तो अन्यत्र है और पदार्थ अन्य जगह है, यहां जो दिख रहा है पदार्थ वह शब्दरहित दिख रहा है। वहांसे कहाँ शब्द निकलते हैं? तो पदार्थ और शब्द ये एक जगह नहीं हैं। पदार्थ और शब्द ये एक रूप नहीं हैं, क्योंकि अगर एक रूप होते तो जैसे आंखोंसे भींत दिखी तो आंखोंसे शब्द भी दिखते। जब भिन्न-भिन्न इन्द्रिय द्वारा जाना जा रहा है तो कैसे कहा जायगा कि इनका तादात्म्य है तो इस तरह शब्दाकारसे रहित ये सारे पदार्थ इन्द्रियज्ञानमें दिख रहे हैं और स्रोत्रसे केवल शब्द ही समझमें आ रहे। तो कैसे कहा जाय कि यह सारा जगत शब्दमय है?

शब्दाद्वैतवादका आशय—देखिये—बात यहाँ यह कही जा रही है कि लोगोंको जब कुछ ज्ञान होता है तब ऐसा लगता है कि ज्ञान भी हुआ और उसका नाम भी या उसका शब्द भी जगा। अरे और कुछ न सही कोई आश्चर्य वाली चीज दिख रही, जिस चीजको कभी देखा ही न हो तो वहाँ भी इस रूपमें ज्ञान जगता है कि कुछ है। किसीका नाम ईंट है, किसीका नाम भींत है, तो किसीका नाम कुछ भी पड़ सकता है। जब भी ज्ञान जगता है तो भीतरमें शब्द उठता हुआ ही जगता है। इस कारण इन दार्शनिकोंको यह ज्ञान बना कि सारा विश्व शब्दमय होता है। ऐसा एक शब्दाद्वैत ही तत्त्व है, अन्य कुछ तत्त्व नहीं है। इस सम्बन्धमें ये शब्दाद्वैतवादी तीन प्रकारके शब्द मानते हैं। एक तो जो बोलने में आ रहे हैं, जिनको हम सुन लेते हैं। इनको कहते हैं वे बैखरी, अर्थात् जो स्पष्ट बोल-चालमें आये, जो कानोंमें भी चोट लगाये। जैसे कि बैखरी बोलनेसे एक चोट सी आयी। ख यह महाप्राणवाला शब्द है। तो जैसे उससे एक कर्णको चोट पहुंचे तो ऐसा शब्द कौन होगा? ऐसा शब्द है यह बोलचालमें आया हुआ जिसे कहते हैं बैखरी वाणी। दूसरी होता है अन्तर्जल्परूप बोली। इसको वे बोलते हैं मध्यमान, और तीसरा शब्द होता है अन्तर्ज्योति स्वरूप, उसे भी शब्दमय देख रहे हैं चर्चाकार। इस तरह तीन शब्दोंसे व्याप्त है सब कुछ, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है, ऐसा कुछ दार्शनिकोंका अभिमत है।

शब्दाद्वैताभिमतकी मीमांसा—बैखरी वाग्रूपता तो प्रकट ही भौतिक है, उसे कैसे ज्ञानानुविद्ध कहा जा सकता है? हाँ इन दिखने वाले बाह्य पदार्थोंसे विलक्षण भीतरमें जो अन्तर्जल्प चलता है उसही के सम्बन्धमें कुछ शंका की जा सकती है कि वह तो ज्ञानमय ही है। शंकाकारका आशय यह था कि भीतर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह कुछ न कुछ शब्दों को लेकर उत्पन्न होता है। हम जिस किसी भी वस्तुका ज्ञान करते हैं तो अन्तरसे उसके सम्बन्धमें कुछ शब्द उठा करते हैं। अमुक है यह। इस तरह वह ज्ञान शब्दमय है और ज्ञान ही क्या, समस्त विश्व शब्दमय है। तो अन्तर्जल्पकी बात यह है कि अन्तर्जल्प जो

Version 1

होता है वह तो है एक भीतरी काल्पनिक वाणी और उन शब्दोंके साथ-साथ जो ज्ञान हुआ है वह है एक प्रतिभासमात्र। सो इस अन्तर्जल्पके बिना भी वह ज्ञान हुआ करता है। यह सोचना असंगत है कि अन्तर्जल्प न हो तो ज्ञान नहीं हुआ करता। अनेक ज्ञान ऐसे होते हैं सूक्ष्म कि जिनमें अन्तर्जल्प नहीं हो पाता। हम जितना जानते हैं वह सारा ज्ञान अन्तर्जल्परूपरूप नहीं है। उनमें अधिकांश बिना अन्तर्जल्पके निकल जाते हैं। यद्यपि उन ज्ञानों का हम ग्रहण नहीं कर पाते, उनको ग्रहण करनेवाला कोई विशिष्ट ही आत्मा होता है, लेकिन अन्तर्जल्पके बिना ही ज्ञानकी मुद्रा हुआ करती है और एक तीसरी वाणी चर्चाकार ने बतायी है अन्तर्ज्योतिरूप तो वह तो कोई पीड़ा ही नहीं है। वह तो अन्तःस्वरूपका दर्शन है। शब्दाद्वैतमय जगत है, ऐसा किसी दार्शनिकका सोचना यह अपनी बुद्धिसे अपने अन्तर्जल्पकी दृष्टि रखकर कहा गया है। वस्तुतः ज्ञान स्वरूप जुदा है और अन्तर्जल्प यह एक विकारकी अवस्था है। ज्ञान तो शुद्धरूपसे रह सकता है, पर शुद्ध स्थिति होने पर अन्तर्जल्प नहीं ठहर सकता है और बहुत शुद्धताकी बात तो दूर रहो, वहाँ तो अन्तर्जल्प रहित अवस्था है ही, किन्तु यहाँ भी योगीश्वरोंके अन्तर्जल्परहित ज्ञानानुभव हुआ करता है। तो शब्दके बिना यह अर्थ है। जैसे यह दृश्यमान अर्थ है इसी प्रकार शब्द भी एक अर्थ है और वह है भाषावर्गणाके स्कंधोंका परिणमन तो ऐसा जिनने अभिप्राय किया है उनके अभिप्राय में अन्तर्जल्प मुख्यतासे है और विज्ञानदृष्टिका मिश्रण है, इस स्थितिमें यह अभिप्राय बन जाता है कि सारा विश्व शब्दमय है।

जीव, आत्मा व परमात्माको जुदा-जुदा पदार्थ माननेके अभिप्रायकी संभावित मूल जिज्ञासा—अब एक नई चर्चा यह आ रही है कि कुछ पढ़े लिखे लोगोंमें यह प्रसिद्धि चला करती है कि जीव, आत्मा, परमात्मा ये तीनों जुदे-जुदे हैं। तो ये तीनों जुदे जुदे हैं इस अभिप्रायकी आधारभूत दृष्टि क्या हो सकती है, यह एक जिज्ञासा की गई है। ब्रह्मवाद आदिक अनेक दर्शनोंमें इस बातको प्रमुख रूपसे कहा गया है कि जीव जुदी चीज है, आत्मा जुदा है और परमात्मा जुदा है, तथा मुक्तिके सम्बन्धमें उसकी व्यवस्था यों बनी है कि जब यह जीव आत्मामें मिलता है और आत्मा परमात्मामें मिलता है तो उसकी मुक्ति कहलाती है। तो यों जो मिलान बताया गया है वह पृथक्-पृथक् सत्ताको लेकर बताया गया है। तो इस तरहका कथन किस दृष्टिके आधारपर बना है, इस तरह यहां यह जिज्ञासा की गई है। इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि पर्यायदृष्टिका परिणाम है। पर्यायको मुख्यतया निरखा और पर्यायको जो कुछ समझा गया है उसके अनुरूप नाम करके यह बताया गया है कि ये तो जुदी-जुदी चीजें हैं। आत्मा जुदी वस्तु है, परमात्मा जुदी वस्तु है। ऐसा कहने वालोंके चित्तमें यह बात नहीं पड़ी है कि जीव स्वयं शुद्ध होकर परमात्मा बनता है, किन्तु परमात्मा तो परमा-

http://www.jainkosh.org

त्मा ही है। जीव जब आत्मामें मिलता हुआ परमात्मामें मिल जाय तो उसका नाम मुक्ति है। अर्थात् जीवकी मुक्ति उधार है, सही नहीं है, तो ऐसा अभिप्राय किस दृष्टिके आधारपर बना ?

शब्दार्थविधिसे ज्ञान जीवादि पर्यायोंके एकान्तके परिणाममें जीवादिके पार्थक्यवादकी निष्पत्ति—उक्त अभिप्राय है पर्यायके एकान्तका परिणाम। जैसे जीवका, आत्मा और परमात्माका जो शब्दार्थ है उसपर विचार करेंगे तो ऐसा प्रतीत होगा कि हां जो जीव है वह आत्मा कैसे हो सकता ? जो आत्मा है वह परमात्मा कैसे हो ? जीवका अर्थ है जो पर अपेक्षासे दसप्राणों करके जीवे। इन्द्रियसे और शरीरमें रहनेवाले मर्म स्थानोंकी सुरक्षासे जो जीवे उसको जीव कहते हैं, ऐसे ही जीवके लक्षण माननेवाले बहुतसे लोग हैं। प्रायः लोग यह समझते हैं कि अगर गला ठीक रहे, श्वास न रुके, गला न घुटे तो यह जिन्दा रहता है, अथवा अन्न खाया, भोजन खाया तो यह जिन्दा रहता है और अन्नसे, अंगकी सुरक्षासे, इन्द्रियसे जीव जीवित रहता है उसका नाम जीव है। यह हुआ जीवका लक्षण। जिसको हम कह सकते बहिरात्मा, जो प्राणोंपर दृष्टि रखे हैं, बाह्य साधनोंपर दृष्टि रखे हैं, उससे ही जीवन मान रहा है वह है बहिरात्मा। जीव तो हुआ बहिरात्मा, लेकिन पार्थक्यवादी जन बहिरात्माके रूपसे भी नहीं मानते, उनका सिद्धान्त है कि जीव तो जीव है, ऐसा नहीं है कि वह बहिरात्मा है और वह फिर कभी अन्तरात्मा बने और परमात्मा बने। बहिरात्मा शब्द तो आपेक्षिक नाम है। होगा कोई अन्तः आत्मा तब यह बहिरात्मा है, ऐसे अपेक्षाको लेकर बहिरात्मा शब्द प्रकट हुआ है, लेकिन जीव तो एक स्वतंत्र सत् है और वह प्राणों करके जिन्दा रहता है, सुख दुःख भोगता है। तो यों पर्यायदृष्टिसे जब निरखा और जो बहिरात्माका रूप है वही पूरा जीवका बनाया गया। उसे जीव कह लीजिये। आत्मा-अतति सततं गच्छति जानाति इति आत्मा, अर्थात् जो निरन्तर जानता रहता है उसको आत्मा कहते हैं। जो जाननशील है, जिसका ज्ञान प्रताप है वह कहलाता है आत्मा। इसमें कुछ अन्तःदृष्टि करके स्वरूप निरखा उसीको और विशुद्ध दृष्टिसे देखो तो जो अन्तः जानता रहता है उसका नाम है आत्मा। अर्थात् अन्तरात्मा हुआ यह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव, और परमात्मा—जो परम हो जाय आत्मा उसको कहते हैं परमात्मा। उत्कृष्ट हो जाय, ज्ञानलक्ष्मीका पूर्ण विकास हो जाय ऐसे आत्माको कहते हैं परमात्मा। बात तो दृष्टि अपेक्षा से सही है कि बहिरात्मत्वसे उसे जीव कह लीजिए, अन्तरात्मत्वसे आत्मा कह लीजिए। और विशुद्ध पूर्णतासे उसे परमात्मा कह लीजिए। लेकिन ऐसा नहीं माना है उस दार्शनिकने। जो जीव है वह सदा जीव ही रहेगा, हां उसकी कल्याणअवस्था उसमें है कि वह परमात्मामें मिल जाय।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जीवको परमात्मामें मिलाकर अस्तित्व समाप्त कर देनेके आशयका निराकरण—जीव जुदा सत् है, उसका भला परमात्मामें मिलने से है। इसके लिए उदाहरण देते हैं कि जैसे कोई जलबिन्दु समुद्रमें मिल गया तो बूँदका जुदा अस्तित्व अब न रहा, वह समुद्रमें मिल गया है, इसी तरह जीव जब परमात्मामें मिल गया है तो जीवका भी जुदा अस्तित्व न रहा, वह परमात्मामें मिल गया, लेकिन यह उदाहरण यों ठीक नहीं बैठता कि बूँद समुद्रमें भी मिल जाय तब भी वह वही रहेगी, वह अपना अस्तित्व न खो देगी। समुद्र नाम है अनगिनते बूँदोंके समूहका। तो एक जलबिन्दु समुद्रमें डाल दी जावे तो अब जलबिन्दुको हम अलगसे क्या परख सकें? वह शकल तो हमको नहीं मिली, लेकिन उस जलबिन्दुका जो अस्तित्व है वह तो नहीं खतम हुआ। वह अस्तित्व तो वहाँ पड़ा हुआ है और कोई समय पाकर वह जलबिन्दु अलग भी हो सकता है। तो इस तरह जीव परमात्मामें मिलकर मुक्त कहलाये और फिर वह अपना अस्तित्व समाप्त करदे तो ऐसी मुक्तिका फायदा क्या रहा? तो उसमें यह मिल गया। यों मिल जानेसे कहीं उस व्यक्तिका अस्तित्व खतम नहीं हो गया, व्यक्ति तो रहेगा ही। जैसे मानो कोई पार्टी किसी बड़ी पार्टीमें मिल गई, मानो बामपंथी पार्टी कांग्रेसपार्टीमें मिल गई तो मिल जाय, विचार एक हो गए, संलग्न हो गया, लेकिन उस बामपंथी पार्टीके मिल जानेपर कहीं उस पार्टीका नाश तो नहीं हो गया? अरे वे तो विचारोंके न मिलनेपर फिर अलग हो सकते हैं। अरे यह जीव परमात्मामें मिल गया और उस जीवका अस्तित्त्व खतम हो गया, ये दोनों ही बातें असंगत हैं।

जीव, आत्मा, परमात्माके एकानेकवादका प्रकाशन—शुद्ध दृष्टिसे निरखिये तो यह जीव चैतन्यपदार्थ है। है कोई चैतन्यपदार्थ, वह चैतन्यपदार्थ जब कर्मोंसे मलीमस है, अनेक विकल्प विचारोंसे आकुलित है, जन्म मरण कर रहा उस समयमें चेतनको जीव शब्दसे कह दिया तो प्रधानतया वह ठीक है, कह दीजिए—उसका अर्थ है कि उस चेतनकी इस समय ऐसी पर्यायदशा है और वही जीव, वही चेतन जिसको कि पहिले जीव-जीव कहा करते थे, वह जब सम्यक् प्रकाश पाता है और अपने अन्तःस्वरूपको सम्हाल लेता है तो उस ही का नाम आत्मा कहलाने लगेगा और वही चेतन जब अपने स्वरूपसंयमके बलसे समस्त विभावों को, विकारोंको नष्ट कर देता है तो शुद्ध स्वर्णवत् शुद्ध स्फटिकवत् उसका सहज स्वरूप विकसित होता है, तो उस ही चेतनका नाम परमात्मा कहलाता है। तो यों यद्यपि एक चेतनके ही ये तीन नाम हैं—भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें, लेकिन यहाँ यह दार्शनिक उस प्रत्येक ही को पूर्ण द्रव्य समझता हुआ यह मान रहा है कि जीव अलग है, आत्मा अलग है और परमात्मा अलग है।

जीव, आत्मा व परमात्मासे परे ब्रह्मकी तुरीयपादताकी चर्चा—अब इसीसे सम्बं-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

धित एक चर्चा और आ रही है। ब्रह्म कोई एक चौथी चीज है। जो जीव, आत्मा और परमात्मा इन तीनोंसे परे है। तो अब इस परिच्छेदमें व्यक्तरूपसे बतायी गई चर्चाओं में यह अन्तिम चर्चा है। इसके सम्बन्धमें जिज्ञासा हो रही है कि यह किस दृष्टिका परिणाम है जो यह समझा जा रहा है कि ब्रह्म, जीव, आत्मा, परमात्मा इन तीनोंसे परे है ? यह है पारिणामिक दृष्टिके एकान्तका परिणाम। देखिये स्याद्वाद शासनमें पारिणामिक दृष्टिकी मुख्यतासे क्या विषय आया करता है ? एक शुद्ध आत्मद्रव्य। शुद्ध चैतन्यस्वरूप, सहज आत्मतत्त्व। उसीका नाम ब्रह्म है। ब्रह्म नाम उसका कारण रखा गया है कि यह चेतन द्रव्य अपने गुणोंसे बढ़ते रहनेका स्वभाव रख रहा है। जैसे कोई स्प्रिंग विस्तार रूप में बना रहनेका ही स्वभाव रखा करता है, उसे कोई यदि दबा दे तो वह स्प्रिंग भले ही दब जाय, पर उसका यह दबना स्वभावतः नहीं है, वह प्रयोगसाध्य है। उस प्रयोगके हट जानेपर स्प्रिंगमें एक विस्तृत दशा ही बनती है। उसका बढ़नेका ही स्वभाव है, फैलनेका ही स्वभाव है। यों ही समझिये कि इस चेतनद्रव्यका, इस आत्मद्रव्यका बढ़नेका ही स्वभाव है, संकुचित होनेसे दबनेका, घटनेका स्वभाव नहीं है। इसी कारण इसका नाम ब्रह्म रखा गया है। ब्रह्म कहो, आत्मा कहो, चेतन कहो, सब अनर्थान्तर हैं, ऐसे ही ब्रह्म वह आत्मा है। वह शुद्ध सहज स्वरूप जीव, आत्मा, परमात्मा इन तीनोंसे परे है, क्योंकि ये तीनों इस पर्यायरूपमें निरखे गए हैं। जो बहिरात्मा है वह तो है जीव, जो अन्तरात्मा है वह है आत्मा और जो विशुद्ध है, विकसित है, भगवान है वह है परमात्मा। तो इन तीनोंमें अवस्थायें देखी गई हैं। एकमें शुद्ध अवस्था है, एकमें मिश्र अवस्था है, एकमें अशुद्ध अवस्था है। तो ऐसे इन तीन परिणमनोंकी दृष्टिका यह नाम है, लेकिन ब्रह्म वह चैतन्यस्वरूप, वह सहज-स्वरूप यद्यपि इन तीनोंमें गत है और तीनोंमें गत रहता हुआ भी किसी एक रूप ही शाश्वत नहीं है। ऐसा वह इन तीनोंसे परे ब्रह्म है।

तुरीयपाद ब्रह्मके अभिमतकी आधारभूत दृष्टिकी जिज्ञासा—ब्रह्मको वे दार्शनिक तुरीयपाद कहते हैं। चार पैरों वाला कहते हैं। चार पैरोंके बिना न चौकी टिकती, न टेबिल टिकती, न जानवर टिकते, न मनुष्य टिकते। मनुष्योंके भी दो पैर होते और दो हाथ होते, इस तरह इन चारके बिना तो कोई जीव जन्तु नजर नहीं आ रहा है। पक्षियों के भी दो पैर हैं और दो पंख हैं, इस तरह जगतकी व्यवस्था वे चार पादोंमें बना रहे हैं। प्रथम पाद है जीव, दूसरा पाद है आत्मा, तीसरा पाद है परमात्मा और तुरीयापाद (चतुर्थ-पाद) है ब्रह्म। उनकी इस व्याख्यामें जीवका लक्षण तो है जागृति रूप दशा और आत्माकी अवस्था है सुषुप्तरूप अवस्था और परमात्माकी अवस्था है अन्तःप्रज्ञ अवस्था और ब्रह्म इन इन तीनोंसे परे है। यद्यपि साधारणतया ऐसा कहना ठीक बैठ रहा कि जीव तो सुषुप्त

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

दशाको कहना चाहिए। जो सोया हुआ हो वह बहिरात्मा है और कहते ही हैं लोग कि मोहनींदमें सोये हुए हैं लेकिन यहाँ कही गई जागृति अवस्था खोटे भावमें जगनेको अर्थात् जो जीव जग रहा है इस बाहरी लोकमें, बाहरी परिणतियोंमें, बाहरी विकल्प तरंगोंमें वह है बहिरात्मा। सोया हुआ अगर कहें तो उसका अर्थ यह निकला कि जो अपने अन्तः स्वरूपके जाननेमें प्रमादी है, सोया हुआ है वह है सुषुप्त। किसी भी शब्दसे कह लो—स्वरूप सही नजरमें आना चाहिए। तो यह जीव जग रहा है विषयोंमें, कषायोंमें, इससे उसकी चेतना नहीं रही है सो वह कहलाता है जीव और आत्मा है सुषुप्त याने बाहरी बातोंमें जो नहीं जग रहा है किन्तु जैसे सोया हुआ पुरुष शान्त है, जैसा पड़ा है वैसा ही बड़ा है, हिलडुल भी नहीं रहा है ऐसे हो जो ज्ञानी पुरुष अपने आप यह दृष्टि बनाये हुए है कि हिलडुल भी नहीं रहा है और अविचलसा बना हुआ है वह कहलाता है आत्मा। और परमात्मा है अन्तःप्रज्ञ, परमज्योतिस्वरूप, जिसकी प्रज्ञा बहुत विशाल है, सर्वज्ञ है, तीन लोक, तीन कालका जाननहार है, ऐसा जो कोई है वह है परमात्मा, और ब्रह्म इनसे परे है। वह ब्रह्म क्या चीज है ? अद्वैतरूप है आदिक कहकर ब्रह्मको तुरीयपाद कहा गया है, तो यह अभिमत किस दृष्टिका परिणाम है कि ब्रह्म इन सबसे परे है ? यह है पारिणामिक दृष्टिका परिणाम।

पारिणामिक भावका अर्थ व उपयोग—पारिणामिक दृष्टिका अर्थ कोई सही समझ ले तब तो उसका उक्त एकान्त न रहेगा, पर पारिणामिक भाव करके जो एक फलित अर्थ निकाला गया है, केवल वही ध्यानमें रहे तो ऐसा विद्वान् पुरुष भी चूक कर सकता है। पारिणामिक भावका फलित और रूढ़ अर्थ क्या बना हुआ है ? पारिणामिक भाव जो अपरिणामी है, शाश्वत है, निर्विकल्प है, जिसमें पर्यायें नहीं, पर्यायोंसे रहित है ऐसा कोई जो भाव है उसको कहते हैं पारिणामिक भाव। यह हुआ रूढ़िवश एकान्त। अब पारिणामिक शब्दका अर्थ समझियेगा—परिणामः प्रयोजनं यस्य स पारिणामिकः अर्थात् परिणमन ही जिसका प्रयोजन है उसे कहते हैं पारिणामिक। देखिये—इस शब्द व्याख्यामें इस तरहसे भी जगा दिया है कि वह कहीं परिणामशून्य नहीं है, उसमें परिणमन होता है, पर्याय होता है, मगर यह पर्याय जिसका प्रयोजन हो, जिसके लिए हो उस एक भावको, उस एक पदार्थको कहते हैं पारिणामिक। तो अब फलित अर्थमें यह बात आ गयी कि पर्याय जिसके लिए है, पर्याय जिसका प्रयोजन है वह भाव तो परिणामशून्य है, निष्पर्याय है, यह फलित अर्थ आ गया। शाश्वत है, एक रूप है, निर्विकल्प है, अभेद है, मानना चाहिए यह किन्तु इसका ही कोई एकान्त करले तो उसकी ये विचारणायें बन जाती हैं कि वह सबसे परे है, बिल्कुल निराला है। यह अनादि शुद्ध है, अनन्त शुद्ध है, पारिणामिक भावके द्वारा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जिस जीवको बताया गया है वह न संसारी है, न मुक्त है, अभिन्नरूप है, लेकिन इसही रूप में कोई सर्वांगतया देखें, आगे पीछे, सारे रूपमें देखे तो उसके बन जाता है यह अपरिणामी ब्रह्म तत्त्व। इससे भी उसमें अन्तर क्या रहा? द्रव्य अनादि अनन्त ध्रुव है तो क्या उसके परिणाम कुछ नहीं होते? पर्याय बराबर निरन्तर चलती है, इस प्रसङ्गमें कोई यह हठ कर ले कि परिणामोंका, पर्यायोंका समूह ही पारिणामिक है जो एक एक पर्याय है वह है वास्तविक तत्त्व और उनके समूहका नाम रख दिया पारिणामिक। सो यह हठ भी बेतुकी है। देखिये पारिणामिका अर्थ है—परिणामः स्वभावः प्रयोजनं यस्य स पारिणामिकः। जिसका प्रयोजन स्वभाव है उसको पारिणामिक भाव कहते हैं। इस व्याख्यासे यह सिद्ध हुआ कि पारिणामिक भाव शाश्वत एक रूप है। इस पारिणामिक भावकी दृष्टिमें ब्रह्म, शुद्ध आत्मद्रव्य जीवादि तीनसे परे ही क्यों, वह तो नव तत्त्वोंसे भी विलक्षण है। किन्तु ऐसा मानकर कहीं पर्यायदृष्टिका प्रतिषेध नहीं करना है। स्याद्वादानुयायी होकर ही वस्तु-स्वरूपकी बना सकते हैं, अन्यथा नहीं। अब उसको एक भाव शब्दसे कह लो—द्रव्यस्था-नीय—वह एक स्वभावी अनादि अनन्त है, शाश्वत है, एक रूप है, तो किसी पर्यायसे रहित ही है। अरे जिस भावको निरखा है इस पारिणामिक दृष्टिमें भी भाव निष्पर्याय है, पर सर्वथा निष्पर्याय हो यह बात वहाँ नहीं आती। पारिणामिक शब्द स्वयं परिणामको सिद्ध कर रहा है। है पर्याय, पर जिसके लिए है, जिसका प्रयोजन है वह है पारिणामिक भाव। बस पारिणामिक शब्दका यह अर्थ न घटित करनेसे एक ऐसा ही ब्रह्म स्वतंत्र मान लिया गया कि जो ब्रह्म है, अविकार है, शाश्वत शुद्ध है, जो कुछ बन रहा है विकार वह सब प्रकृतिका विकार है। प्रकृति माया है, मिथ्या है, इन्द्रजाल है, ब्रह्म है, पर एक सदा शुद्ध है। तो यों पारिणामिक दृष्टिका एकान्त करनेका यह परिणाम है।

जीव, आत्मा व परमात्मासे अविभक्त व विभक्त ब्रह्मका आख्यान—अब उक्त चर्चा पर पुनः विचार करें। जीव, आत्मा व परमात्मा, ये तीन अवस्थायें चैतन्यमय चेतनमें होती हैं, चेतनाके सम्बन्ध बिना जीवका कोई स्वरूप व्यवस्थित रह सकेगा क्या? आत्माका स्व-रूप चेतन सम्बन्ध बिना कोई व्यवस्थित नहीं कर सकता, इस तरह जीव, आत्मा व पर-मात्मा ये तीनों चैतन्यमय चेतनकी अवस्थायें हैं और इन तीनों अवस्थाओंका स्रोत यह चैतन्य है ऐसा वह चैतन्य स्वभावतः इस पारिणामिक दृष्टिमें जिस रूपमें निरखा गया वह चैतन्य अकर्ता है, अभोक्ता है, अहेतुक हैं और जीव, आत्मा, परमात्मा—इन तीनोंका स्रोत है। ब्रह्मको इन तीनोंसे सर्वथा अलग नहीं समझना, किन्तु वह चैतन्य ब्रह्म है और उस चैतन्यब्रह्मकी ये तीन परिणतियाँ हैं। अशुद्ध परिणतियोंमें जीव कहलाता है और मिथ्या परिणतियोंमें आत्मा कहलाता है और शुद्ध परिणतियोंमें परमात्मा कहलाता है। ब्रह्म

Version 1

सामान्य है और जीव आत्मा परमात्मा विशेष है। केवल सामान्य कोई तत्त्व नहीं है, केवल विशेष कोई तत्त्व नहीं है। मनुष्यत्व सामान्य न हो तो आप बता सकते क्या कि यह बूढ़ा है, यह बालक है, यह जवान है ?···नहीं बता सकते। कोई बालक, बूढ़ा, जवान आदिक कुछ भी न हो तो क्या बता सकते हैं कि यह मनुष्य है ? तो पदार्थ सामान्य विशेषात्मक ही होता है, उनमें जो सामान्य चेतन है वह हुआ ब्रह्म और जो उसका विशेषण है वह कहलाया जीव, आत्मा और परमात्मा। ब्रह्म उनसे सर्वथा विभक्त है, यह अभिप्राय मिथ्या है। यदि उन्हें स्याद्वाद नीतिसे विचारा जाय तो यह मालूम होता है कि पारिणामिक दृष्टिका प्रताप है जो ऐसा मंतव्य बना।

स्याद्वाद विधिसे चलकर निर्विकल्प स्थितिमें दृष्ट ज्ञानज्योतिकी सुरक्षाका आवश्यक स्मरण——जिस प्रकार दीपक हवासे न बूझ जाय, वह सुरक्षित बना रहे, एतदर्थ लोग प्रयत्न करते हैं किसी मिट्टीके घरगूलामें छिपानेका, किसी ओटमें रखनेका और इतने भी साधन न मिले हों तो प्रयत्न करते हैं थोड़ा हाथ ही लगा लेनेका। इसी तरह यहाँ परखिये——जो यह ज्ञानज्योतिकी दृष्टि हुई है और जो ज्ञानकी दृष्टिमें चल रहा हैं, प्रकाशमान हो रहा है उसको कहीं बाहरसे कोई झोंका न लग जाय तो जिसके पास जितना साधन है वह उसके द्वारा अपनी ज्ञानज्योतिको रक्षित बनाता है। निर्विकल्प समाधिकी योग्यतावाला पुरुष उस निर्विकल्प समाधि द्वारा सुरक्षित बनाये रहता है, तो प्रमत्त विरत साधु अपने उस उच्च शुभोपयोगके द्वारा जहाँ शुद्धोपयोगका भी स्पर्श होता रहता है उस ज्योतिको सुरक्षित बनाये रखते हैं। तो दार्शनिक जन या अन्य जन उस तरह बनाये रहते हैं जैसे उनके पास साधन हों, पर जितने भी ज्ञानी पुरुष हैं उन सभीका लक्ष्य एक समान है कि यह ज्ञानज्योति बुझ न जाय। अनादिकालसे जो कभी प्राप्त नहीं हुआ और जिसके प्राप्त होनेका अबसे अन्य कोई अवसर भी नहीं दिखता है, वर्तमान यह अवसर, इतना उत्कृष्ट क्षयोपशम, इतना उत्कृष्ट संस्कार, वातावरण, सत्सङ्ग सब कुछ प्राप्त हुआ है तो इसमें कर्तव्य यही मात्र है कि मेरा वह सहज ज्ञानस्वरूप मेरी दृष्टिमें रहे। बाहरी अन्य पदार्थ किसी प्रकार कुछ परिणमें, मेरा तो मेरेसे ही पूरा पड़ेगा। ऐसी दार्शनिक दृष्टि रखनेवाले अनेक लोग भी प्रयत्न तो इसीलिए करते हैं और करना चाहिए, पर इस विधिसे प्रयत्न करते हुए अनेक दार्शनिकोंने कुछ बीचकी बातोंका आग्रह करके ज्यों विकल्पों को पकड़ा त्यों भीतर की बात हाथसे खुल गई और इस तरह एकान्तके आग्रहमें वे अपना भी सर्वस्व खो बैठे। हाँ सन्तोष जरूर थोड़ा बहुत कर रहे हैं कि हम कोई विलक्षण बात परख रहे हैं। तब वे अपनी कल्पना माफिक सन्तोष कर रहे हैं, पर हाल यह हुआ कि जो एक थोड़ी कुछ ओट थी, दार्शनिक मंतव्य था कि जिससे इस ज्ञानज्योतिको सुरक्षित बनाये

http://www.jainkosh.org

रहनेमें मदद मिले, मंतव्योंको ही एकान्त आग्रहसे दूषित कर लिया, तब इस तत्त्वसे वे हाथ धो बैठे। प्रयोजन यह है कि स्याद्वादका आग्रह, आश्रय किए बिना आत्माकी पर्यायकी सिद्धि नहीं होती है।

एकान्तके आग्रहमें हानि—इस परिच्छेदमें अनेक दार्शनिकोंकी दृष्टियाँ बतायी गई हैं और साथ ही यह भी जाहिर किया गया कि ऐसा दार्शनिक अभिप्राय बननेकी सम्भावित आधार दृष्टि क्या हो सकती है? उन वर्णनोंको सुनकर उसी तरह अन्य-अन्य दृष्टियोंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए कि और भी अनेक प्रकारकी जो दृष्टियाँ हैं वे दृष्टियाँ भी यदि स्याद्वादका आश्रय लेकर हुई हैं तब तो वे सम्यक् मार्गसे च्युत कराने वाली न होंगी, किन्तु स्याद्वादका आलम्बन छोड़े हो और आग्रहमें आ गया हो तो उसको स्वरूपसे च्युत होना पड़ता है। बच्चा माँ को प्रिय होता है, वह एक दो ऐब कर बैठे तो माँ उसपर दृष्टि नहीं देती है। और मां उस बच्चेपर अनुराग रखती है, पर कदाचित् बच्चा किसी एक बात पर आग्रह करके बैठ जाय तो माँके प्यारसे भी वह हाथ धो बैठता है। और चाहे कुछ कालके बाद वह प्रीतिसे बोल ले, मगर तत्काल तो उसको पीटना, डांटना, उपेक्षा करना, छोड़कर भागना इन सब बातोंका बोझ उस बालकको ही सहन करना पड़ता है। तो किसी एकान्तका आग्रह उसकी बरबादीका ही हेतुभूत होता है।

लोकदृष्टिमें तथा निरंशवादियोंकी दृष्टिमें सामान्यका स्वरूप--अब कुछ अन्य दृष्टियोंके सम्बन्धमें भी एक दो उदाहरण ले लीजिए। प्रमाण निर्णीत बात है कि पदार्थ सामान्य विशेषात्मक होता है। न वह कोई विशेष मात्र होगा, न कोई केवल सामान्य मात्र होगा। और यह भी परख लीजिये—वस्तुस्वरूपके सम्बन्धमें जितने दर्शन बने हैं वे सब दर्शन इस सामान्य और विशेषके किसी आग्रह या विपरीत वर्णनके आधारपर बने हैं। कितने दर्शन हैं जगतमें ?···सैकड़ों। और ३६३ पाखण्डमत तो उल्लेखमें बताये गए ही हैं, पर वस्तुस्वरूपके दर्शनमें जो विभिन्नतायें आयी हैं उन सबका मूल आधार यह है कि सामान्य और विशेषके स्वरूपमें कोई समझनेमें गल्ती की। केवल इतना ही आधार है सारे दर्शनोंका, क्योंकि वस्तु सामान्यविशेषात्मक हुआ करती है। अब उसके बारेमें कोई कुछ भी निर्णय बनायेगा तो सामान्य और विशेषका सम्बन्ध रखकर ही बना सकेगा। और कोई पद्धति ही नहीं है। तो अब इस सामान्यविशेषात्मक पदार्थमें सामान्य क्या है, विशेष क्या है और किस-किस प्रकारकी त्रुटियाँ होती हैं सामान्यको समझनेमें और विशेष को समझनेमें, उसके दो उदाहरण दे रहे हैं। तत्त्व तो इतना विस्तृत है कि जिसका बहुत बड़ा विस्तार किया जा सकता है। कितने ही दिन तक समझा जाय, कहा जाय, तो भी पर्याप्त न होगा, लेकिन यह दार्शनिक विषय थोड़ा कठिन विषय है और आध्यात्मिक प्रसंग

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

में इसको लम्बा नहीं किया जाना चाहिए, तो हम एक सामान्यतया बतला रहे हैं सामान्य। साधारणतया लोगोंने सामान्यके सम्बन्धमें बताया कि जो सबमें बात पायी जाय उसे सामान्य कहते हैं। यह तो लोगोंका एक सीधा निर्णय है।

अब शब्दपद्धतिसे देखें तो सामान्य किसे कहते हैं ? तो समाने भवः सामान्यं। जो समान समानमें बात हो उसे सामान्य कहते हैं। यह बात भी वहाँ मिल गई। अब उसका यह विश्लेषण कीजिए कि वह सामान्य उस उस व्यक्तिमें बसा हुआ है, किस तरह बसा हुआ है ? तत्त्व तो यही है कि प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक पदार्थ सामान्यरूप और विशेषरूप है लेकिन इस मंतव्यसे हटकर कोई दार्शनिक यह कहता है कि सामान्य तो कुछ भी चीज नहीं है। केवल अतदव्यावृत्ति है। अर्थात् वह नहीं है, वह नहीं है, यह व्यावृत्ति जहाँ नहीं हो, इस तरहके हटाव न हों उन हटावोंके अभावका नाम सामान्य है। जैसे मनुष्य, सामान्य क्या ? गाय नहीं है, घोड़ा नहीं है, मकान नहीं है, बिच्छू नहीं है, उस मनुष्यके अतिरिक्त जितने अन्य अन्य पदार्थ हैं उन सब पदार्थोंका जो हटाव है उसका तो लोगोंने विशेष नाम रख दिया और मनुष्य मनुष्योंमें तद्व्यावृत्ति न होना इसका सामान्य नाम रखा है। अब दार्शनिककी सूझ देखियेगा—किस-किस ढंगसे वे सामान्यकी तहको टटोलना चाहते थे, लेकिन अतद्व्यावृत्ति ही यदि सामान्यका स्वरूप माना जाय तो वह तो अभावमात्र है। तो जो अभावरूप है वह कभी अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकता।

अतद्व्यावृत्तिरूप सामान्यके स्वरूपकी मीमांसा—अब इस अतद्व्यावृत्तिरूप सामान्य की मीमांसा कीजिये—वहाँ अतद्व्यावृत्ति तब ही लोग बता रहे हैं जब कि समानपरिणाम मौजूद है। सामान्य मनुष्यमें यदि समान परिणाम, समान शकल, समान स्वरूप, समानशील न हो तो कौन यह कह सकता है कि मनुष्य मनुष्यमें तद्व्यावृत्ति नहीं है। घोड़ा न हो, हाथी न हो, बिच्छू न हो, इन बातोंको उसने कैसे कहा ? तब कहा कि जब सब मनुष्योंमें समान-समान परिणाम नजर आये। तो यदि समान परिणाम नहीं हैं और समान परिणाम का निषेध करके अतद्व्यावृत्तिके द्वारा उस सामान्यको बता रहे हैं तो समान परिणाम का यदि आधार न हो तो अतद्व्यावृत्ति नहीं बन सकती। उसकी व्यावृत्ति नहीं है, यह कथन नहीं बन सकता। वह तो हुआ विशेषका स्वरूप कि घोड़ा नहीं, अमुक नहीं, पर अतद्व्यावृत्ति जैसे यह मनुष्य अन्य मनुष्यसे अलग नहीं, यह मनुष्य अन्य मनुष्यसे भिन्न नहीं, उससे भिन्न नहीं। भिन्न न होनेका नाम सामान्य है। तो जैसे व्यक्तिमें विशेषतत्त्व न माना जाय तो वहाँ अन्यापोह घटित नहीं हो सकता, तद्व्यावृत्ति घटित नहीं हो सकती, इसी प्रकार समान परिणाम न माना जाय तो अतद्व्यावृत्ति भी घटित नहीं होती। किसी सामान्यका स्वरूप किसी तरहसे तोड़मरोड़ करके जो रखा है उसका निराकरण सुनकर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

एक दूसरा दार्शनिक आया, बोला कि यह तो ठीक नहीं कहा जा रहा है——हमारी बात सुनो—वह सबको ठीक जंचेगी। "क्या बात है ?···सामान्य दुनियाभरमें एक है और सब जगह व्यापक है। लो ये भाई भी बहुत भले आये, कहते कि एक सामान्य है और सारी दुनियामें व्यापक है। तो भला वे बतलायें कि जिसको सर्वव्यापक कह रहे हैं उनके सर्वव्यापकका मतलब क्या है ? क्या वह सब जगह सर्वपदार्थोंमें सारे क्षेत्रमें व्यापक है या उस व्यक्तिमें सबमें व्यापक है जिसका सामान्य बताया जा रहा है ? जैसे कोई कहे कि मनुष्यत्व सामान्य है और वह एक है, सर्वव्यापक है तो क्या सर्वव्यापकके मायने जितनी दुनियामें जगह है सबमें व्यापक है या जितने मनुष्य हैं उन सब मनुष्योंमें व्यापक है ? क्या मतलब है ? यदि कहोगे कि जितनी जगह है दुनियामें उतने सबमें व्यापक है तो यह तो प्रत्यक्षसे भी गलत बात लग रही है। आप हमसे १० हाथ दूर बैठे हैं, यहाँ बीचमें कोई मनुष्य नहीं है तो यहाँ कहाँ मनुष्यत्व भरा है ? और फिर वे यह बतायें कि वह मनुष्यत्व जब सब जगह व्यापक है तो यह क्या वजह हुआ कि बीचमें जो गाय खड़ी है उसमें तो मनुष्यत्व लग नहीं बैठा और जो ये दो हाथ पैरके आदमी हैं इनमें मनुष्यत्व चिपक गया ? सो क्या कारण है ? क्योंकि वह मनुष्यत्व यदि सारी दुनियामें एक सर्वव्यापक है, वहां जो आया सो ही मनुष्य कहा जाना चाहिए। उस मनुष्यत्वकी चिपक अथवा उस मनुष्यत्वका स्पर्श जिसको हो जाय वही मनुष्य बन बैठेगा, लेकिन ये दो हाथ पैर ऐसे अंगके ऊपर ये मस्तक, मुख आदिक धारण करनेवाले इन मनुष्योंमें ही मनुष्यत्व क्यों आया ? अन्यमें क्यों नहीं आया ? सो सामान्य एक व सर्व सर्वगत है, ऐसा यहाँ सिद्ध नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि जो व्यक्ति व्यक्ति है मनुष्य उन सब मनुष्योंमें मनुष्यत्व व्यापक है। तो इसका अर्थ यही तो हुआ ना कि अन्य जगह नहीं है। मनुष्यत्व मनुष्यमें है। अब इसकी भी बात सोचो——मनुष्यमें मनुष्यत्व है, इसका अर्थ आप क्या लगा रहे ? क्या यह अर्थ है कि मनुष्योंमें ही मनुष्यत्व है या मनुष्योंमें मनुष्यत्व ही है या मनुष्योंमें मनुष्यत्व रहता ही है। आपका वह निर्णयात्मक एव कहां लगा है, इसको तो बताइये——यदि कहोगे कि मनुष्यमें ही मनुष्यत्व है तब अब यह बतलाओ कि वह मनुष्यत्व प्रत्येक मनुष्य व्यक्तिमें ही व्यापक है या उसकी चीज फैलकर दूसरे मनुष्यमें है ? यदि इस तरह है तो पहिले वाले दोष हैं और यदि नहीं है तो यही हम कह रहे हैं कि मनुष्योंमें ही मनुष्यत्व है, वह मनुष्यत्व समान समान व्यक्तिमें ही है और साथ ही उसमें विशेष है तब वह सामान्यविशेषात्मक हो गया। यदि यह कहा जाय कि मनुष्योंमें मनुष्यत्व ही है तो इसके मायने हुआ कि मनुष्यमें और कुछ नहीं है, न अस्तित्व है, न वस्तुत्व आदिक है, बस मनुष्यत्व ही है। एक एवका अर्थ अन्यका निषेध हुआ करता है सो बात है गलत। यही क्रियामें एव लगानेका प्रसङ्ग है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मनुष्यमें मनुष्यत्व रहता ही है। इसके मायने औरमें भी मनुष्यत्व रहता है। तो वस्तुको सामान्यविशेषात्मक माने बिना वस्तुकी व्यवस्था नहीं बन सकती। तब यह एकान्त आग्रह चला कैसे ? तो उनकी दृष्टि रही सामान्य की द्रव्यदृष्टि, सबमें साधारणतया निरखनेकी साधारण दृष्टि, पर उसका एकान्त होनेमें वस्तुकी व्यवस्था नहीं बनती।

पृथक् सामान्यरहित विशेषके मन्तव्यकी मीमांसा—अब कुछ जरा विशेषकी भी बात समझ लीजिए। विशेषके सम्बन्धमें लोग इतने आग्रहमें आ गए कि अनेक दार्शनिकोंका यह कहना है कि जो विशेष है वही पूरा पदार्थ है। जैसे क्षणिकवादी लोग, अथवा जो विशेष है वही पूर्ण पदार्थ है, कोई अवयवी नहीं है, एक-एक परमाणु ये स्वतंत्र स्वतंत्र पदार्थ हैं। कोई अवयवी, कोई प्रतिमा पिण्ड, कोई वस्तु नहीं है। लो विशेषके एकान्तमें इतना उतर गए, किन्तु सामान्यरहित विशेष भी असिद्ध ही है। सामान्यरहित बिशेषको स्वतन्त्र पृथक् पदार्थ माननेवाले दार्शनिक विशेषका स्वरूप यों कहते हैं—"नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्याः" नित्यद्रव्यमें रहनेवाले अन्तिम अवच्छेदक भाव याने जिनमें फिर और विशेष भेद सोचनेकी गुंजाइश न हो सके वे विशेष कहलाते हैं। ये व्यावृत्तिप्रत्ययके हेतुभूत हैं किन्तु यह लक्षण असंगत है—प्रथम तो सर्वथा नित्य द्रव्य कुछ होता ही नहीं है सो लक्षण असंभव दोषसे दूषित है। दूसरी बात यह है कि पदार्थमें स्वयं तादात्म्यरूपसे रहनेवाले विशेषभाव स्वयं व्यावृत्तिप्रत्ययके हेतुभूत हैं। जैसे गायोंमें पाये जाने वाले सफेद, पीली, काली आदि गायके विशेष एक दूसरेसे जुदा परखानेवाले विशेष हैं। ये विशेष जिस द्रव्यके हैं वह द्रव्य सामान्य रूप भी है, यों पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। जो लोग विशेषको पृथक् पदार्थ मानते हैं और ये विशेष एक दूसरेको व्यावृत्त बतानेवाले ज्ञानके कारणभूत हैं वे यह बतायें कि विशेष भी तो अनन्त माने गये हैं, फिर उन विशेषोंको परस्पर पृथक् बतानेके कारणभूत कोई अन्य विशेष है या ये ही विशेष अपनेमें भी परस्पर व्यावृत्तिका ज्ञान करा देनेके कारण हैं। यदि विशेषोंमें व्यावृत्तिप्रत्ययका हेतुभूत अन्य विशेष है तब उसके लिये अन्य विशेष माना जायगा यों अनवस्था हो जायगी, यदि कहा जाय कि वे ही विशेष परस्पर व्यावृत्तिप्रत्ययके कारणभूत हैं तो पदार्थमें स्वयं ही पाये जानेवाले विशेषोंको ही व्यावृत्तिप्रत्ययका कारण मान लो पृथक् विडम्बित विशेषोंकी कल्पना व्यर्थ है। पदार्थ स्वयं सामान्यविशेषात्मक हैं।

पृथक् सामान्य विशेषके मन्तव्यका वैयर्थ्य—अब यहाँ यह निरखिये कि ऐसे सामान्य और विशेषके आग्रहमें उनको भीतरमें सन्तोषका साधन क्या मिला ? कुछ भी नहीं मिला। जैसे कहते हैं ना कि चले तो थे छब्बे होनेके लिए और हो गए दूबे, तिबे, चौबे आदि। चौबे कहते हैं चार वेदोंके जाननेवाले को, तो चले तो थे चार वेदोंके जाननेवाले चौबे छब्बे बननेको और हो गए दुबे (दो वेदोंके जाननेवाले)। सो यही हाल है इन एकान्तका आग्रह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

करनेवालोंका। वे सब ईमानदारीके साथ चले तो थे आत्मकल्याणका पोषण करनेके लिए, मगर इतने आग्रहमें चले कि उनका जो अन्तः तत्त्व था वह भी छूट गया। और जब सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ माना गया—यह मैं स्वयं आत्मा सामान्यविशेषात्मक हूं—ओह ! यह मैं हूं, लो हो गया विशेषवाद। और जहाँ होनेका अनुभव मात्र है वह हुआ सामान्यवाद। यह तो कही योगस्थितिकी बात और यहाँ ही जब निर्णयमें आता है, उपयोग निर्णयमें आता है तो इसका स्वरूप इसकी मूर्ति क्या दिखाई जाय ? वे अनन्त शक्तियाँ हैं, उन सबका जो अभेद पिण्ड है वही मैं हूं। शक्तियोंरूपमें जो नजर आता था उन सबका अभेद हो तो उसके मायने एक आत्मस्वरूपकी व्यवस्था बनी, सो पदार्थ सामान्यविशेषात्मक हुआ। यों पदार्थ जिस तरह सामान्यविशेषात्मक है उसी तरहसे मानकर चलें। तो हमको कल्याण क्यों करना चाहिए ? उसका उत्तर भी मिलता है।

अब एक थोड़ीसी बात और भी समझनेके लिए कही जा रही है कि लोग कहते हैं कि वेद अपौरुषेय हैं। ऐसा क्यों कहा ? चाहे उन्होंने यह जाना हो कि यदि यह कह दिया जाय कि ये वेद ये शास्त्र आकाशसे उतरे हैं तो लोगोंमें प्रमाणताकी छाप ज्यादह बैठ जायगी। इसमें गल्ती हो ही नहीं सकती। ये तो आकाशसे उतरकर आये या जो भी बात हो, लेकिन इसको यदि शब्दानुसार देखा जाय तो देख लीजिए। पौरुषेयका अर्थ है कि लोकमें जो मनुष्य पाये जा रहे हैं उन सबकी जो करतूत हो उसको कहते हैं पौरुषेय, और इससे विलक्षण किसी शक्तिसे सम्बन्धित हो तो उसे कहते हैं अपौरुषेय। तो वेद मायने ज्ञान। वह ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान अपौरुषेय है, साधारण पुरुषोंमें सम्भव नहीं हो सकता है। वह तो भागवत वेद है, याने भगवानका ज्ञान है, भगवानमें सम्भव है। यों वेद अपौरुषेय हैं। यदि यह आगमकी बात समझी जाय तो यह आगम भी अपौरुषेय है। यह स्याद्वाद आगम, यह समस्त तत्त्वोंका यथार्थ निरूपण करनेवाला आगम क्या साधारण पुरुषोंसे आया हुआ है ? क्या इसको किसी मनुष्यने किसी झोंपड़ीमें एकान्तमें बैठकर इरादा करके बनाया है ? यह साधारण पुरुषोंसे समागत नहीं है। यह तो अपौरुषेय है। इन साधारण पुरुषोंसे विलक्षण जो भगवान जिनेन्द्रदेव हैं उनके ज्ञानमें जो कुछ भी भाषित हुआ वह उनकी दिव्यध्वनिसे प्राप्त हुआ है। अतः यह ज्ञान, ये आगम, ये वेद अपौरुषेय हैं। लेकिन अपौरुषेयका मर्म यह लोगोंने न समझ पाया। उनकी समझमें यह बात आयी कि इन दिखने वाले पुरुषोंसे विलक्षण तो कोई हुआ ही नहीं करता है, कोई अभी तक दीखा ही नहीं है, इससे उनको ये आगम किसी आप्तसे प्रकट हुए यह उन्हें रुचिकर न हुआ। वेद मायने ज्ञान, सो पूर्ण ज्ञान पुरुषोंमें नहीं है, किन्तु भगवानमें है। वेद मायने आगम सो यह पूर्ण ज्ञान अपौरुषेय है, पुरुषप्रणीत नहीं है, यह तो अपौरुषेय है। वीतराग सर्वज्ञदेवकी दिव्यध्वनि

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

से उतरा है, आया है। ये आगम भागवत हैं, भगवान् श्री जिनेन्द्रसे चले आए हुए हैं। इसकी कथामें कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि चतुर्मुख ब्रह्माके मुखसे ये वेद प्रकट हुए हैं। उनकी यह बात भी इस अपौरुषेयके मर्मको साबित कर रही है। चतुर्मुख भगवान जिनेन्द्र देव के मुखसे निकली हुई दिव्यध्वनि हमें शिवमार्गको प्रदान करनेवाली है। उन जिनेन्द्रदेव के कुछ ऐसा ही अतिशय है कि उनका मुख चारों ओर दिखता है। यदि ऐसा न हो तो बैठनेके पीछे ही बड़ा झगड़ा पड़ जाय। कोई पीठ पीछे बैठकर भगवानके दर्शन ही न करना चाहे। सभी भगवानके मुखके सम्मुख बैठकर दर्शन करना चाहें, पर वहाँ ऐसा कोई झगड़ा नहीं है। प्रभु चतुर्मुख हुये, उनका मुख चारों ओर दीखा, उन प्रभुके मुखसे दिव्यध्वनि खिरी, गणधरों ने उस दिव्यध्वनिको झेला, उस आगमको बादमें फिर अन्य महर्षियोंने प्रकट किया। देखिये तात्विक बात तो यह है, पर लोगोंने इस बातको अन्य-अन्य ढंगोंसे माना। खोटे चारित्र वाले देव, गणेश, महर्षि आदि जिनका चारित्र रागी द्वेषी जीवोंके समान दिखाई देता हो, इस तरहसे प्रसिद्धि हो गयी।

नय चक्रकी गहनता व नयचक्रसे निर्णय करके नयपक्षातिक्रमण अन्तस्तत्त्वमें मग्न होनेके कर्तव्यका स्मरण—जितने अभिप्राय हैं सबकी आधारभूत कोई मूलमें दृष्टि हुआ करती है, अतएव बड़े विवेकपूर्वक समझने समझानेका उद्यम करनेवाले लोग ईमानदारीसे चिग गए हों, यह तो विश्वासमें नहीं आता, पर ज्ञानकी, नयकी ही कोई चूक बन गई, यह संभव है, क्योंकि नयचक्र एक ऐसा घनघोर जंगल है कि इसमें चलते हुए पथिक कई जगह भूल भटक सकते हैं। तो केवल एक नयकी भूलके परिणाममें जो ऐसे अनेक वस्तु-स्वरूपके बतानेवाले दर्शन हैं उनकी सम्भावित आधारभूत दृष्टिको निरखा जाय तो यह सब समन्वित हो जाता है। इन दृष्टियोंके अतिरिक्त और भी इतने मत हैं कि जिनकी निश्चित कोई सीमा नहीं, क्योंकि जितने विचार हैं उतनी ही दृष्टियाँ हैं और जितनी दृष्टियाँ हैं उतने ही मत हैं, लेकिन उन सब मतोंका निर्णय युक्तिबलसे, न्यायबलसे कर लेना चाहिए और उस विसम्वादसे हटकर अपने आपमें अपना निर्णय बनाकर इस अन्तस्तत्त्वकी उपासना में अपना समय अधिक लगाना चाहिये। इन सब नयोंकी परख हो जानेसे सत्य दृष्टिका दृढ़-तम निर्णय हो जाता है। सही निर्णयमें पहुंचनेके पश्चात् निर्णय व नयके विकल्पसे भी परे होकर अखण्ड सहज ज्ञानस्वभावके दर्शन ज्ञानमें तृप्त होना चाहिये। प्राप्त बुद्धिका वैभव व सदुपयोग यही है।

ॐ शान्तिः ! ॐ शान्तिः !! ॐ शान्तिः !!!

॥ इति अध्यात्मसहस्री प्रवचन अष्टम भाग समाप्तः ॥

Report any errors at vikasnd@gmail.com